नियमसार प्रवचन सप्तम भाग

(निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 002

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन सप्तम भाग** 'अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 95 से गाथा 106 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में **श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9424414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, ’सहजानन्द’ रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय.....- 2 -

आत्मकीर्तन .....- 3 -

आत्म रमण .....- 3 -

गाथा 95..... 1

गाथा 96..... 8

गाथा 97..... 14

गाथा 98..... 26

गाथा 99..... 34

गाथा 100..... 42

गाथा 101..... 57

गाथा 102..... 65

गाथा 103..... 73

गाथा 104..... 79

गाथा 105..... 83

गाथा 106..... 95

नियमसार प्रवचन सप्तम भाग

[प्रवक्ता: अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज]।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानान्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तसमै श्रीगुरवे नम:।।

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।

वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलिभणिदं।।1।।

गाथा 95

मोत्तूण सयत्नजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।

अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स।।95।।

प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान का पूर्वापर सम्बन्ध- परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार के पश्चात् निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार कहा जा रहा है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का ऐसा निकट सम्बन्ध है कि प्रत्येक विवेकी पुरुष किसी दोष के प्रति जो चिन्तन करता है, उसके रूपप्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के रूप में क्रमश: आ जाया करते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ है लगे हुए दोषों को मिथ्या करना और प्रत्याख्यान का अर्थ है आगामीकाल में उन दोषों को न लगने देना। पूर्णत: संक्षिप्तरूप यह है कि जैसे किसी पुरुष से पहिले बहुत अपराध हो गया है और जिस अपराध का फल उसके सिर पर आ पड़ने वाला है तो वहां वह यह कहता है कि मैंने बहुत बुरा किया, अब ऐसा न करूँगा। किसी दोष के प्रति जो यह भावना होती है कि मैंने बहुत बुरा किया, अब न करूँगा; यह प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान की झलक है। प्रतिक्रमण में यह भावना भी भीतर में पड़ी हुई रहती है कि बुरा तो मैंने किया, पर यदि बुरा न करता तो मेरी कुछ अटकी न थी, मैंने व्यर्थ ही बुरा किया, अब ऐसा न करूँगा। मैं न करता दोष तो क्या ऐसा निर्दोष रह नहीं सकता था? रह सकता था। विशुद्ध शान्त रहना तो मेरी निज की बात है; किन्तु किन्हीं परिस्थितियों और कुबुद्धिवश ऐसा कर गया। ठीक नहीं किया, वह मेरा मिथ्या हो अर्थात् जो मेरे अंतरंग में न किये जाने की स्थिति का चिन्तन है, वही हो; मेरे दोष मिथ्या हों, अब मैं ऐसे दोष कभी न करूँगा।

प्रत्याख्यान के आशय से प्रत्याख्यान की आवश्यकता- प्रतिक्रमण के बाद जो प्रत्याख्यानाधिकार चल रहा है, इसमें प्रत्याख्यान का वर्णन आयेगा। प्रत्याख्यान के मायने त्याग है। आगामीकाल में इस दोष को न करूँगा अथवा अमुक चीज का ग्रहण न करूँगा; ऐसा जो वर्तमान में संकल्प है, दृढ़ता है, उसे कहते हैं प्रत्याख्यान भाव। प्रत्याख्यान भाव के बिना व्रत, तप, संयम, सर्वदीक्षा का जमाव नहीं रह पाता है। जिस पुरुष के वर्तमान में तो त्याग है, पर भावीकाल में पाप करने का आशय पड़ा हुआ है;उसके वर्तमान में भी मूलत: निर्दोषता नहीं हैं। जिसे वैराग्य तो नहीं है। पर जैसे सभी लोग अनन्तचतुर्दशी का उपवास करते हैं, हम भी जैन हैं, हमें भी करना चाहिए, इससे कुछ अपनी गोष्ठी में वातावरण भी बनता है और धर्म करने से कुटुम्ब भी अच्छा रहता है। अत: उपवास तो ठान लिया, पर तेरस की रात्रि

से पूनम के सुबह का बराबर ध्यान है, आएगा पूर्णिमा का दिन तो यह भी बनेगा, वह भी बनेगा, यह भी कर लेंगे, दूध का प्रबन्ध करना है, अमुक जगह से लायेंगे, थोड़ा हलुवा बना लेंगे, काली मिर्च का काढ़ा बना लेंगे- सारे प्रोग्राम अभी से बसे हुए हैं। उसके उस वर्तमान उपवास में कौनसी दृढ़ता है और कौनसी प्रशंसा की चीज है? प्रत्याख्यान में अवधि सहित भी त्याग होता है; पर अवधि के बाद में इस-इस तरह की प्रवृत्ति करूँगा, इस प्रकार प्रत्याख्यान के विरूद्ध कोई विकल्पजाल न उठाये तो वहां वर्तमान प्रत्याख्यान ठीक चल रहा है।

विभावविजय में प्रत्याख्यान की प्राथमिकता- प्रत्याख्यान का भाव तो प्रथम होना ही चाहिए। वर्तमान त्याग की दृढ़ता प्रत्याख्यान भाव के बिना नहीं आ सकती। इसकी तो यों शोभा समझिए कि जैसे युद्ध करने वाली सेना में जो विजय-पताका होती है, उस विजय-पताका का आधार दण्ड है; इसी प्रकार व्रत, संयम आदि द्वारा जो आत्मविजय की पताका फहरायी जा रही है, उस विजय-पताका का मूल आधार यह प्रत्याख्यान भाव है। आगामीकाल में दोषों का न होने देना सो प्रत्याख्यान भाव है। प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। जहां सकल संयम हो जाता है, 5 पापों का सर्वथा त्याग हो जाता है, उसे भी प्रत्याख्यान कहते हैं। उस प्रत्याख्यान का आवरण करने वाला जो कषाय है, उसे प्रत्याख्यानावरणकषाय कहते हैं। इस प्रकरण के प्रत्याख्यान में वह महाव्रतरूप प्रत्याख्यान भी गर्भित है और भविष्यकाल में कभी पाप न करेंगे, इस प्रकार की दृढ़ता भी गर्भित है। साथ ही अवधिसहित मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों का त्याग करना, आहार-पान का तैयार करना; यह भी गर्भित है। वास्तविक प्रत्याख्यान तो समस्त रागद्वेषादि भावों का त्याग करना है; ऐसे ही वास्तविक प्रत्याख्यान को लक्ष्य में लेकर यह निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार कहा जा रहा है।

प्रत्याख्यान का अधिकारी- इस गाथा में यह बतला रहे हैं कि जो मुनि समस्तवचनालाप को छोड़कर भविष्यकाल में शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के भावों का परित्याग करके, निवारण करके जो आत्मा का ध्यान करता है, उस मुनि के यह निश्चयप्रत्याख्यान होता है। यह प्रत्याख्यान समस्त कर्मों की निर्जरा का कारण है। प्रत्याख्यान बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह तो मोक्ष-मंदिर में पहुंचने के लिए सीढ़ी की तरह है। मुक्ति में होने वाली परमनिराकुलता के वर्तने के लिए यह सर्वप्रथम उपाय है। निश्चयप्रत्याख्यान भी उस पुरूष के सम्भव है, जिसने जिनमार्ग के अनुसार विधिपूर्वक व्यवहारप्रत्याख्यान में भी दक्षता पायी है। प्रत्याख्याता महामुनि के व्यवहारप्रत्याख्यान की वृत्ति भी चलती है और उस सहज प्रत्याख्यान वृत्ति को करते हुए निश्चयप्रत्याख्यान की ओर उनका चित्त रहता है।

व्यवहारप्रत्याख्यान- व्यवहारप्रत्याख्यान का स्वरूप है मर्यादारहित अर्थात् जीवनपर्यंत पापों का परिहार करना और जो प्रवृत्तियां जीवन में करनी आवश्यक हो गयी हैं, उनका कुछ अवधि तक परित्याग करना। जैसे मुनिजन आहार ग्रहण करते हैं, वे आहार ग्रहण करके 8 प्रहर के लिए तो त्याग कर ही देते हैं चारों प्रकार के आहार का। यदि भावना हुई तो दो दिन, चार दिन, पक्ष, मास आदिक अवधि लेकर भी त्याग कर देते हैं। आहार चार प्रकार का होता है- अन्न, पान, खाद्य और लेह्य। अन्न नामक आहार रोटी, दाल, भात आदिक हैं और पान नामक आहार दूध, पानी, सिकन्जी, फलों का रस आदिक हैं। खाद्य नामक आहार लड्डू, पेड़ा, बर्फी आदिक हैं, जो स्वाद भी प्रधानता से रखते हैं और खाये जाते हैं। लेह्य नामक आहार चटनी, मलाई, रबड़ी आदिक हैं। इन चार प्रकार के आहारों का मुनियों के आठ

प्रहर के लिए तो त्याग ही है, यह उनका मूल गुण है, पर आत्मसाधना की सुविधा के अनुसार वे अनेक दिनों तक को भी त्याग कर देते हैं। यह सब है व्यवहारप्रत्याख्यान।

मुद्रा और अन्तर्वृत्ति का महत्त्व- व्यवहारप्रत्याख्यान होते हुए निश्चयप्रत्याख्यान की दृष्टि रहती है तो विधिपूर्वक व्यवहारप्रत्याख्यान बन जाता है। पर्यायबुद्धि रखकर कि मैं साधु हूं, मैंने साधुव्रत लिया है, मुझे भोजन करके फिर 8 प्रहर का त्याग करना चाहिए- ऐसी पर्यायबुद्धि की प्रमुखता से जो परिहार किया जाता है, उसे मार्गसहायक व्यवहारप्रत्याख्यान भी कैसे कहा जाए? वहां तो मिथ्यात्व की वर्तना हो रही है। जहां पर्यायबुद्धि की अज्ञानता चल रही है, वहां तो सम्यक्त्व भी नहीं है। वास्तव में साधुपद तो होगा ही क्या? किन्तु दर्शक पुरुष किसी भी साधु की बाह्यवृत्ति को ही निरखता है, उससे फिर अन्तवृत्ति को कुछ जानता है। हां, बाह्यवृत्ति भी इतनी अयोग्य दिखे कि जिससे अन्तरंग भाव का स्पष्ट अनुमान हो जाए और उस अनुमान में यदि साधुपद नहीं रहता है तो न मानेगा उसको साधुरूप में। किसी भी साधु को निरखकर ऐसा अपने को दूध का धुला माने कि पहिले मैं साधु की परीक्षा कर लूँ कि यह वास्तव में साधु है या नहीं, पीछे इसकी सेवा करेंगे- ऐसा परिणाम श्रावक का नहीं होता है। जिस मुनि से परिचय नहीं है और वह मुनि आज सामने आया है तो उसकी निर्ग्रन्थ मुद्रा को निरखकर उसकी सेवा, वंदना करना कर्तव्य है। हां, आपको सेवा-वंदना करते हुए में अथवा कुछ काल बाद आपको उसके मिथ्याभाव का, खोटे आशय का पता पड़ जाए तो फिर आप उसकी उपेक्षा कर लो।

अन्यथा वृत्ति में आत्मवन्चकता- कोई साधु जैसे बाह्य आरम्भों में, परिग्रहों में आसक्त हो रहा हो, जिसने ज्ञान, ध्यान और तप की साधनों को उपेक्षित कर दिया हो, जो स्वयं अपने आपको शान्ति में न रख सकता हो, जिसे निरन्तर विह्वलताएँ-चिंताएँ लग रही हों, जो थोड़ी-थोड़ीसी बातों पर दूसरों से झगड़ा करने लगता हो, जिसके भाषा समिति बिल्कुल न हो, गाली-गलौज अथवा अन्य प्रकार से असद्व्यवहार करता हो- ऐसी प्रवृत्तियों को देखकर यह स्पष्ट अंदाज हो जाता है कि यह साधु नहीं है; किन्तु अपनी मान्यता के लिए अथवा अपने आराम के लिए साधुभेष ही रखा है। ऐसे साधुवों की सेवा में खुद की ठगाई कर रहा है यह सेवक। चित्त में तो नहीं बसा हुआ है कि यह मुनि है और लोकलाज के लिए अथवा लोग मुझे कहीं अधर्मी न कह दें, अनेक कारणोंवश सेवा में जुट रहा है। अत: यह सेवक अपने आपको ठग रहा है। जो ग्रन्थों में यह वर्णन है कि अनेक मुनि नरक निगोद जायेंगे और उनके सेवक भी नरक निगोद जायेंगे- ऐसी स्थिति उस वंचक की हो जाती है, जो अपने आपको ठग रहा है और जो श्रावक अपने आपको ठग रहा है।

परमअहिंसा की मूर्ति- साधु अहिंसा की मूर्ति होते हैं। उन्हें संसार, शरीर और भोगों से परम वैराग्य होता है। साधुवों की धुन केवल एक आत्महित के लिए रहती है। उनकी यह आत्मा हर घड़ी सेकेण्ड के बाद दृष्ट होता रहता है, जो चलते हुए में भी परमध्यानस्थ हो जाते हैं, खाते हुए में भी यदाकदा परमध्यानस्थ हो जाते हैं। छठे गुणस्थान का काल कुछ सेकिण्डों का है और सप्तम गुणस्थान का काल उससे भी आधा है। कोई मुनि आहार कर रहा है तो उसे 20-25 मिनट तो लगते ही है। 20-25 मिनट के आहार में की जाने वाली क्रियावों के अन्दर-अन्दर कितने ही बार इस

शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का ध्यान पहुंचता है। यह वृत्ति इतनी शीघ्र हो जाती है कि कोई ही मर्मदर्शी पुरुष यह अन्दाज कर सकता है कि इस समय इनका ध्यान उत्कृष्ट बन गया है। कोई भी उनकी क्रियावों को निरखकर या उनकी मुद्रा को देखकर साधारणतया नहीं परख सकते हैं। जिनका ज्ञान और वैराग्य इतना उत्कृष्ट है- ऐसे साधु-संत जिस वातावरण में, जिस स्थान में विराजे हों, उस स्थान का वातावरण शांत निराकुलतापूर्ण हो जाता हैं। ऐसे साधुवों की उपासना में, उनकी संगति में जो श्रावक अथवा साधु रहा करते हैं, वे भी इस लौकिकतत्त्व का दर्शन करके सफल हो जाते हैं।

परम गुरु का शरण- वास्तविक साधु, परमार्थतत्त्व का ज्ञाता, आत्महित का अभिलाषी मुनिराज तो हम सब लोगों का परम गुरु है, पिता है, शरण है, उसका ही सहारा सच्चा सहारा है। इस अशरण संसार में भ्रमण करते हुए हम आपको सिद्धों का सहारा तो क्या मिल सकता है; वे तो लोक के अन्तर में विराजे हैं, उनका तो स्मरणमात्र का ही एक बड़ा सहारा है। वे अपन लोगों से न कुछ बात करते हैं और न हम आपको कुछ प्रेरणा देते हैं, उनकी ओर से तो हम आप कुछ नहीं पा रहे हैं। अरहंत भगवान जब कभी हों तब उनका सहारा है, बाकी तो उनका सहारा दिव्यध्वनि की परम्परा से चलाआया हुआ जो यह आगम है, उसकी उपासना के रूप में यह तो महान् सहारा मिल रहा है; पर मैं विचलित होऊँ और अरहंत आकर यह कहें, प्रेरणा दें कि तुम धैर्य से विचलित न होवो। जैसे कहते हैं कि हाथ पकड़कर सहारा देना अथवा कुछ उनसे चर्चा कर लें, यह बात हमें अरहंत की ओर से भी साक्षात् कहां मिल रही है? ऐसा व्यवहार तो जब अरहंत भी विराजे हों, तब भी नहीं हो सकता। साक्षात् सहारा तो हमें गुरुजनों का मिल रहा है।

गुरु की निरपेक्ष उपकारशीलता- यदि कोई वास्तविक ज्ञान और वैराग्य गुणों का निधान गुरु है तो वह हमारा निरपेक्ष बंधु है। अन्य मित्रजन तो किसी स्वार्थवश, किसी अपेक्षा से हमारे हितभरी बातें बोला करते हैं, वे अपनी बुद्धि के अनुसार हितभरी बातें बोलते हैं, परन्तु हितभरी बातें वे निकाल नहीं सकते। जो स्वयं स्वार्थी हैं, कुछ उपेक्षा रखते हैं- ऐसे पुरुष दूसरे के वास्तविक हित को करने वाली बातें कह नहीं सकते हैं। ये संसार, शरीरभोगों से विरक्त ज्ञान, ध्यान, तपस्या की धुन वाले गुरुजन हमारे निरपेक्ष बन्धु हैं। हम उनकी क्या उपासना कर सकते हैं, हम उनकी क्या सेवा कर सकते हैं। जो उपकार गुरुजनों के द्वारा अपना होता है, उसका बदला, सेवा हम लोग निभा नहीं सकते हैं। संसार में सबसे महान् कार्य है संसार-संकटों से सदा के लिए छुटकारा पाने का उपाय कर लेना। इससे बढकर अन्य कुछ सारव्यवसाय नहीं है। यह बात परमगुरुवों के प्रसाद से प्राप्त होती है। वे परमगुरु हम लोगों के वास्तविक शरण हो रहे हैं। ऐसे ये मुनि शुभ-अशुभ भावों का निवारण करके शुद्ध अंतस्तत्त्व की आराधना में लगे रहते हैं। ऐसे साधुवों के निश्चयप्रत्याख्यान होता है।

निश्चयत: प्रत्याख्यान का आलोक- निश्चय से प्रत्याख्यान नाम है समस्त द्रव्यकर्मों का और भावकर्मों का रुक जाना। द्रव्यकर्म तो हुआ पुण्यपापरूप 148 प्रकार की प्रकृतियां और भावकर्म हुआ शुभ अशुभ भावरूप असंख्यात प्रकार के विभाव। इन कर्मों का रुक जाना सो प्रत्याख्यान है। द्रव्यकर्म और भावकर्म के रुकने का उपाय एक है, वह है शुद्ध ज्ञानभावना की सेवा करना। यह आत्मा अपने आप अपने सत्त्व के कारण जिस स्वरूपरूप है, उसकी ही भावना रखना, यह है समस्त द्रव्यकर्म और भावकर्म के अभाव का कारण। मोक्षमार्ग में केवल इसकी ही प्रमुखता है शुद्ध

ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व के भावना की। मोक्षमार्ग के प्रारम्भ से लेकर मोक्षमार्ग के अन्त तक सर्वत्र इसका ही प्रसाद है, बीच में जितने भी व्यवहार, व्रत, तप, संयम, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि जो कुछ भी किए जाते हैं, वे सब इस शुद्ध ज्ञान की भावना रखने के लिए किए जाते हैं। निरपराध दशा इस शुद्ध ज्ञान की भावना में ही होती है, अन्य किसी में नहीं।

शुद्ध ज्ञानप्रभु का मिलन- शुद्ध ज्ञान की भावना के लिए शुभ-अशुभ सर्वप्रकार की वचनरचनावों के विस्तार के त्याग की आवश्यकता है। जब तक यह जीव वचनरचना का परिहार नहीं करता है, तब तक वचनरचना किसी पर को उपयोग में लेने के पश्चात् हीहो सकती है; अत: वचनरचना का उद्यमी जीव बहिर्मुखता के निकट रहता है। जहां उपयोग अपने स्वरूप को त्यागकर किसी भी परपदार्थ की ओर लगा, वहां शुद्ध ज्ञान की भावना नहीं रह सकती है। शुद्ध ज्ञान ही कारणसमयसार है और इस शुद्ध ज्ञान का शुद्ध विकास ही कार्यसमयसार है। लोग परमात्मा के नाम पर यत्र-तत्र दृष्टि लगाए रहते हैं और उसे किसी आकार में अमुक रंग के वस्त्र से सजे हुए अमुक हथियार या साधन रखे हुए अमुक स्त्री-पुत्र के साथ बैठे हुए इत्यादि नानारूप में परमात्मा को निरखना चाहते हैं; पर निरखने की यह पद्धति बिल्कुल विपरीत है। प्रभु तो ज्ञानविलास का नाम है। जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है, जिसकी दृष्टि के प्रसाद से यह मोक्षमार्ग चलता है; वह तो है कारणप्रभु और उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप का जहां असीम शुद्ध विकास हो गया है, वह है कार्यप्रभु। परमात्मा का मिलन तब तक नहीं हो सकता है, जब तक हम अपने आपमें अपने आपको ज्ञानमात्र रूप निरखने का उपयोग न करें। परमात्मा का दर्शन कर लेना दर्शक की कला का प्रताप है। यह अन्यत्र स्थित परमात्मा की कला का प्रताप नहीं है।

प्रत्याख्यान की पात्रता- जो पुरुष सर्वप्रकार की शुभ-अशुभ वचनरचनावों को छोड़कर शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की भावना में लगता है और इस भावना के प्रसाद से शुभ अशुभ द्रव्यकर्म और भावकर्म का संवर करता है, वह पुरुष निश्चयप्रत्याख्यानरूप है। उनके ही सदा प्रत्याख्यान रहता है, जो अन्तर्मुख परिणति से परमज्ञानकला के आधारभूत इस अपूर्व आत्मतत्त्व को ध्याते हैं। प्रत्याख्यान निश्चय से ज्ञातृत्वभाव का ही नाम है। परपदार्थों का त्याग हो जाना तो उसका आनुषंगिक परिणाम है। इस जीव के साथ बाह्यवस्तु लगी ही कहां है, जिससे बाह्यवस्तु के त्याग का महत्त्व परमार्थ से दिया जाए? बाह्यवस्तु के सम्बन्ध में जो अहंकार ममकार का संकल्प-विकल्प बनाए हैं, वह है आत्मा में लगी हुई परिणति। अत: अहंकार ममकार की परिणति का त्याग करने का नाम प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान का विधि व निषेधमुखेन वर्णन- अहंकार-ममकारविभावों का परित्याग होना और ज्ञातादृष्टारूप परिणमन होना- ये दोनों एक साथ होते हैं। इसका कारण यह है कि विधि और निषेध ये केवल अपेक्षा से कही जाने वाली चीजें हैं। जैसे अंगुलि टेढ़ी हो और सीधी कर दी जाए तो उसको चाहे इन शब्दों में कह लो कि अंगुलि की टेढ़ मिट गयी और चाहे इन शब्दों में कह लो कि अंगुलि में सीधा परिणमन हो गया। बात वहां एक है, उस एक ही विलास को हम विधि और निषेध से कहते हैं। इस निश्चयप्रत्याख्यान में जो आत्मविलास है, उसको चाहे यों कह लीजिए कि समस्त विभावों का परिहार हो गया और चाहे यों कह लीजिए कि यह मात्र ज्ञातादृष्टारूप परिणमन कर रहा है।

ज्ञानरूप प्रत्याख्यान- अब जरा कुछ थोड़ासा विकल्प बनाकर आगे विकल्प कीजिए कि जो कोई पुरुष किसी भी परवस्तु का प्रत्याख्यान करता है, वह उन परवस्तुवों को जानकर अहित जानकर ही तो त्यागता है। अत: उनको पर जान लेना, अहित जान लेना, भिन्न समझ लेना, असार ज्ञात कर लेना- ऐसा जो ज्ञान का विलास है, वह ही वास्तव में प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान ज्ञानस्वरूप ही हुआ करता है। कोई कहे कि रागद्वेष छोड़ो, इसका अर्थ यह ही तो हुआ कि तुम केवल जाननहार रहो। जाननहार रहो, ऐसा कहने में व रागद्वेष से परे रहो, ऐसा कहने में जो एक विलास का परिचय कराया गया है; वह वस्तुत: अवक्तव्य हैं। निश्चय से प्रत्याख्यान ज्ञाताद्रष्टा रहने का नाम है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान की सन्धि- ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है के जो दोष पहिले किये थे, वे दोष तो हो गए थे, मेरे स्वभाव में न थे। निमित्तनैमित्तिक भाव से हमारे अशुद्ध उपादान में दोष प्रकट हो गया था; पर भूल में मैं तब भी शुद्ध निरपराध ज्ञानस्वभावमात्र था। यों निरखने वाले के वे दोष आज उपयोग में प्रतिष्ठा नहीं पा रहे हैं। यों प्रतिक्रमण भाव को करके यह ज्ञानी यह दृढ़ संकल्प कर रहा है कि अब ये दोष, अब ये विभाव मुझमें न होंगे। मैं उन सब विभावों का द्रव्यरूप, भावरूप कर्मों का त्याग करके मोहरहित होता हुआ अपने चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में ही बर्तता हूं अर्थात् ज्ञातामात्र रहता हूं।

निष्कर्म की निष्कर्मता- यह आत्मा निष्कर्म है अर्थात् न तो इसमें शुभ-अशुभ भावों के रंग हैं और न मन, वचन, काय की क्रियावों की, आत्मप्रदेशपरिस्पंद की तरंग है। नीरंग और निष्तरंग यह आत्मतत्त्व है। रंगीली चीज में भी दर्शक का स्वरूप प्रतिभात नहीं होता और तरंग और तरंग वाली चीज ये भी दर्शक का स्वरूप प्रतिभात नहीं होता। किसी नदी का पानी यदि मैला है, समुद्र का पानी मैला है तो उस पानी में दर्शक का मुख दर्शक को नहीं दिख सकता है। यदि पानी गंदला न हो, किन्तु हवा के वेग से उसमें बड़े वेग से लहरें उठ रही हों तो भी उस जल में दर्शक का मुख दर्शकों को नहीं दिख सकता है। ऐसे ही इस जीव में जब तक कषायों का रंग लगा है, कषायों के रंग से यह ज्ञानसमुद्र मलिन बन रहा है तो उस ज्ञानसमुद्र में इस ज्ञानमय आत्मा का स्वरूप नहीं प्रतिभात हो सकता है। कदाचित् यह रंग भी न रहे, ऐसा कषाय भी न रहे, किन्तु तरंग रहे, अस्थिरता रहे तो उस अस्थिरता में भी इस आत्मा का पूर्ण विकासरूप शुद्ध झलक नहीं हो पाता। तब तो जो आत्मा रंगीला भी है और उसमें तरंगे भी बहुत-बहुत उठ रही हैं, ऐसी मिथ्यापरिणति में तो आत्मस्वरूप की झलक ही कहां से हो? यह मैं आत्मा निष्कर्म हूं, भावकर्म के रंग से रहित हूं और मन, वचन, काय की क्रियाएं अथवा आत्मप्रदेश परिस्पंद इनकी तरंगों से भी रहित हूं, ऐसा यह मैं नीरंग ज्ञानसमुद्र हूं।

विचित्र और विकट समस्या- अहो देखो तो भैया !विचित्रता को। यह दिखने वाला भी ज्ञान है और जो देखा जाने वाला है, वह भी ज्ञान है। एक ही पदार्थ है, पर कैसा मिथ्याजाल है कि उस एक ही पदार्थ के बीच में भ्रम की चादर पड़ी हुई है। कहां ऐसा अवकाश हो गया, कहां से ऐसी गुन्जाईश निकल आयी कि एक ही पदार्थ में भ्रम की चादर आड़े हो गई? कोई दो पदार्थ हों और उनके बीच में कोई अन्तर वाली तीसरी चीज आ जाए वह तो लोगों में सुप्रसिद्ध हो जाता है, पर एक ही पदार्थ और उसके बीच में एक भ्रम आड़े आ गया, जिससे यह उपयोग बहिर्मुख हो

गया और यह अंतस्तत्त्व तिरोहित हो गया, यह कितनी विचित्र बात है अथवा विचित्र भी कुछ नहीं है या इससे भी और विचित्र बात यह है कि वह भ्रम की चादर भी कहीं दूसरी-तीसरी चीज नहीं हो गयी, कहीं दूसरी-तीसरी जगह नहीं आयी, यह ही भ्रम की चादर बन गयी। यह ही विमुख होता हुआ बहिर्मुख दर्शक हो गया और यह अपने आपमें तिरोहित अंतस्तत्त्व तो बना हुआ है ही। ऐसी विकट समस्या में पड़ा हुआ यह जीव अपनी सुध-बुध को भूलकर चारों गतियों में विषयचक्र को अपनाकर भ्रमण कर रहा है, दु:खी हो रहा है।

आत्मग्रहण में परप्रत्याख्यान- जो सम्यग्दृष्टि पुरुष होते हैं, वे समस्त कार्य और नोकर्म के समूह को त्याग देते हैं। आत्मा के हाथ-पैर, अंगोपांग तो है नहीं कि किसी अंग से किसी को ग्रहण कर लेते हों, लेकिन परपदार्थों को यह मैं हूं, यह मेरा है- ऐसा मानने का ही तो नाम ग्रहण है। तब यह मेरा नहीं है- ऐसा मानने का नाम ही त्याग है। साधुजन बाह्यपरिग्रहों का त्याग कर देते हैं, यह लोगों को बहुत स्पष्ट हो रहा हैं; पर वह साधु शरीर का भी त्याग कर चुका है, यह लोगों की समझ में नहीं आ पाता है; किन्तु वहां साधु अपने शरीर का भी त्याग कर चुका है। यह बात वहां पड़ी हुई है। त्याग करना कोई क्षेत्र से क्षेत्रांतर करने का नाम नहीं है, किन्तु यह मेरा है- ऐसी भावना न रहना, यह मेरा नहीं है, इस प्रकार की दृढ़ता सहित अपने आकिन्चन्य ज्ञानस्वभावमात्र अपनी प्रतीति रखना, इसका नाम त्याग है। अब इस त्याग भाव के होते सन्ते जो चीज क्षेत्रांतर हो सकती है, वह क्षेत्रांतर हो जाती है। जो अन्य क्षेत्र को नहीं पहुंच सकता है, वह क्षेत्रान्तरित नहीं होता है। क्षेत्रान्तरित हो अथवा न हो, जिस संत ने अपने आपमें अपने आपको ग्रहण किया है, उसने तो सबका त्याग कर दिया है।

निश्चयत: त्याग- यह सम्यग्दृष्टि पुरुष समस्त कर्म और नोकर्म समूह का प्रत्याख्यान कर देता है, इन्द्रियविषयों के साधनभूत इन पुद्गल ढेरों का त्याग कर देता है, अपने आपसे चिपटे हुए एकक्षेत्रावगाही इस शरीर का भी त्याग कर देता है और नाना परिणमन जो इस पर गुजर रहे हैं उन विभावों का भी वह त्याग कर देता है। त्याग होना श्रद्धा के ऊपर निर्भर है, श्रद्धा परपदार्थ से हट गयी तो उसका नाम त्याग हो गया, यह भीतर की कहानी कही जा रही है। आपके पास भूल से किसी दूसरे का पेन रखा हुआ है, आपकी भी कलम जेब में रखी है, एकसा रंग था, एकसी सारी बात थी, किसी प्रकार भूल से बदले में आपकी जेब में आ गया, आपको पता नहीं है। अत: यह मेरा पेन है- ऐसा संस्कार बनाया है। उससे लिखना, उसके साथ जेब में रखे रहना आदि सारी बातें हो रही हैं। कदाचित् जिसका वह पेन है, पता लगाता हुआ आपके पास पहुंच जाए और बताए कि यह पेन तो मेरा है, तुम्हारा नहीं है। इसकी पहिचान कर लो, इसको खोल लो, इसके भीतर की रबड़ सफेद है और अनेक चिन्ह बताए। अब आपने सही जान लिया कि हां यह पेन इसका ही है। अब भले ही लोभवश आप ऊपर से लड़ाई करते हैं, बहस करते हैं कि कैसे है तुम्हारा पेन? यह हमारा है, पर अन्तरंग में, उस ज्ञानप्रकाश में तो देखो कि आपके उस पेन का त्याग हो गया है। भीतर में यह निर्णय हो गया है कि इसे मैं अपने पास रख नहीं सकता देना पड़ेगा। यों यथार्थज्ञान के विलास में उसका त्याग हो चुका है।

ज्ञानी की बन्द्यता व अज्ञान की निन्द्यता- सम्यग्दृष्टि पुरुष उन समस्त ज्ञानातिरिक्त भावों का प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन की मूर्तिस्वरूप सम्यग्दृष्टि के ही वास्तव में प्रत्याख्यान होता है और ऐसा निश्चयप्रत्याख्यान करने वाले ज्ञानी पुरुष के ही पापसमूह दूर होते हैं। अज्ञानी पुरुष तो बाह्य में धर्म की प्रवृत्ति कर रहा है, पूजा कर रहा है, जाप दे रहा है, विधान कर रहा है, यज्ञ कर रहा है, कुछ भी कर रहा है; किन्तु अन्तरंग में भेदविज्ञान नहीं है। विषयों से व विषयसाधनों से प्रीति बनी हुई है तो उसके पापसमूह नष्ट नहीं हो रहे हैं; किन्तु वह तो पापों को बढ़ा रहा है। वह बाह्य में धर्म को करके अंतरंग में विषयों की प्रीति खूब हो, मुझे खूब मौज मिले, मुझे संसार के सुख खूब मिलें- ऐसी कुबुद्धि कर रहा है। जो ज्ञानी पुरुष है, विवेकी है, उसके ही पापसमूह दूर हो सकते हैं। ऐसी जो सम्यग्ज्ञान की मूर्ति हैं, प्रत्याख्यानस्वरूप है; निज को निज और पर को पर जानकर केवल निजस्वरूप ही अपना अनुभवन कर रहा है, रागद्वेष से परे है- ऐसा ज्ञानपुन्ज सम्यग्दृष्टि पुरुष हिताभिलाषी जनों द्वारा वंदनीय है। ऐसा ज्ञानी पुरुष ही अपना हित कर सकता है और दूसरों के परमार्थभूत हित का साधक होता है। रागद्वेष में बढ़ा हुआ पुरुष न अपना हित कर सकता है और न अन्य दूसरों का हित कर सकता है। इस प्रकार के प्रत्याख्यानस्वरूप साधु-सन्त सदा मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा वंदनीय हैं।

गाथा 96

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।

केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतये णाणी।।96।।

ज्ञानी का चिंतन- ज्ञानी पुरुष इस प्रकार विचार कर रहा है कि मैं केवल ज्ञानस्वभाव हूं, केवल दर्शनस्वभाव हूं, सहजानन्दस्वरूप हूं, केवल शक्तिस्वभाव हूं। इस चिंतन में ज्ञानी ने अपने को सहज अनन्त चतुष्टयरूप निरखा है और व्यक्त अनन्त चतुष्टयरूप होने की इसमें स्पष्ट योग्यता है, इस प्रकार निरखा है। अपने आत्मा का इस रूप में ध्यान करना इस रूप के विकास का कारण है। जो अपने आपको जिस रूप में ध्यान करता है, वह अपने आपमें उस ही तत्त्व का विकास करता है। जो मनुष्य अपने को कुटुम्ब वाला, इज्जत वाला आदिक रूप में विभावरूप अनुभव करता है, विभावरूप को देखता है; उसके विभाव परम्परा चलती रहती है और जो समस्त परभावों से रहित केवल ज्ञाताद्रष्टा, सहज ज्ञानदर्शनस्वरूप अपने को निरखता है; उसके केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्रकट होता है।

भावना के अनुसार प्रवृत्ति के कुछ लोकदृष्टान्त– भैया ! थोड़ा बहुत यहां भी दिख जाता है कि जो बालक अपने को ऐसा विश्वास किए हुए है कि हम तो बेवकूफ लड़कों में से हैं, मुझे पाठ नहीं याद होगा; उसकी ऐसी ही कुबुद्धि चलती है, बनती है कि वह सफल नहीं हो पाता है। जिसमें इतना साहस है कि यह काम तो मैं कर सकता हूं, मनुष्य

ही तो कहते हैं कि अपने में सामर्थ्य का अनुभव है, इस कार्य को मैं कर सकूँगा; अत: वह उस कार्य में सफल हो सकता है। मंत्र-ध्यान में और बात विशेष है क्या? जो सर्प का विष उतारने वाले हैं, जो किसी प्रकार के मंत्र द्वारा किसी सर्प के काटे हुए का विष उतारते हैं, वे अपने आपमें ऐसा ही उपयोग बनाते हैं कि यह विष तो यों दूर हो गया, यों दूर हुआ, यह हटा, यह विष अब यहां आ गया है; इस प्रकार की अपने आपमें भावना बनायी, मंत्र उच्चारणरूप उत्साह जगाया, विश्वास बनाया। क्या विचित्र बात हो जाती है कि प्राय: यदि वहां भी उपादान निर्विष होने को है तो उसका निमित्त पाकर वह विष उतर जाता है।

ध्यान का प्रभाव- पहिले समय में जब गजरथ चला करते थे।(आजकल भी बुन्देलखण्ड में प्रथा है पंचकल्याण के बाद हाथी का रथ चलाना।) उन रथों के अवसर पर कुछ मंत्रवादी लोग इसके लिए तैयार हो जाते थे कि मैं इसके रथ को तोड़ दूँगा? उस समय समारोह कराने वाले पुरुष भी ऐसे मंत्रवादियों को संतुष्ट करते थे। यदि वे संतुष्ट न हो पायें तो अपने मंत्रप्रयोग द्वारा कुछ बाधा डालते थे। उनकी क्या प्रणाली थी? वे खेल जैसा गजरथ बनाते थे। कोमल ठठेरों से या ज्वार के पेड़ों से या मक्का वगैरह के पेड़ों को छीलकर उनके गूदे व पंचों से गोल रथाकार बना लेते थे। फिर मंत्र करके, ध्यान करके, रौद्र परिणाम करके उस रथ के कुछ अंगोपांग तोड़ते थे। ऐसी करीब-करीब प्राय: होने की बात सुनी जाती है कि असली रथ में भी प्राय: ऐसा विघ्न हो जाता था। कैसा निमित्तनैमित्तिक योग है? हम उस विषय को ज्यादा नहीं समझते हैं, पर यहां भी तारीफ की बात थी एक अपने आपके ध्यान की।

भावना पर बालकों का प्रभाव- जब बच्चे ऊधम मचाते हैं, तब उनको यह कहा जाता है कि अरे ! तू तो राजाभैया हैं, राजा कहीं ऐसा ऊधम मचाते हैं? वे तो बहुत शांत रहते हैं। वे लड़के तब अपने आपमें कुछ ऐसा अनुभव बनाते हैं कि ओह, मैं तो राजाभैया हूं, राजाभैया को इस तरह ऊधम नहीं मचाना चाहिए। अत: वे शांत हो जाते हैं। बच्चे कभी-कभी घुटना टेककर घोड़ा-घोड़ा खेल इस प्रकार से खेलते हैं- वहां से घोड़ा बना एक बालक आया, यहां से भी एक बालक घोड़ा बनकर चला, फिर वे रास्ते में मिले, मुंह से मुंह मिलाकर हिनहिनाये और हाथापाई की। वहां बच्चे थोड़ी देर के लिए अपने बच्चेपन को भूल जाते हैं। हम तो घोड़े हैं- ऐसा कुछ देर के लिए अपना अनुभव बना लेते हैं। मैं घोड़ा हूं- ऐसी तीव्र वासना बना लेने के कारण उन बच्चों में मार-पिटाई हो जाती है और फिर रो-धोकर ही वह खेल खत्म होता है।

ध्यान का असर- कोई पुरुष किसी कमरे में बैठा हो और ध्यान कर रहा हो कि मैं महिषासुर हूं, मैं एक भैंसा हूं, भैंसे की शक्ल मेरी है और उस ही रूप अपने प्रयोग में ढांचा बना ले और बहुत विशालरूप अपने आपको सोच ले कि मैं बहुत विशालकाय रूप वाला भैंसा हूं और मेरे ये सींग तीन तीन हाथ लम्बे लगे हुए हैं- ऐसा भैंसे का रूप सोचे और उस ही चिंतन के तुरन्त बाद कमरे के दरवाजे पर ध्यान जाए कि यह तो ढाई फुट का ही चौड़ा दरवाजा है तो थोड़ी देर को यह व्यग्रता मानता है कि मैं इस दरवाजे से कैसे निकलूँगा? अरे तू तो मनुष्य है, दुबला-पतला आदमी है, चिंता की क्या बात थी, पर अपने आपको जैसा सोचा तैसा ही उपयोग बना डाला।

सुख-दु:ख की ध्यानानुसारिता- भैया ! ध्यान में ऐसी शक्ति है कि अभी अपने आपको किसी दु:ख से दु:खी सोचने लगे तो वह दु:ख पहाड़ जैसा बन जाएगा। मैं बड़ा दु:खी हूं, इस मुहल्ले में मेरी कुछ इज्जत ही नहीं है, कोई मुझे ज्यादा पूछता ही नहीं है और धन कुछ भी नहीं है, यह देखो पड़ोसी कैसा लखपति है, मौज मार रहा है, हम बड़े हीन है, बड़े गरीब हैं; इस प्रकार कुछ से कुछ सोच लें दु:खभरी बात तो दु:ख पहाड़सा बन जाता है। यदि अपने में सुखभरी बात सोचने लगें कि कितना सुन्दर अवसर मिला है, श्रेष्ठ मनुष्य जीवन और कितना समर्थ मन मिला है, इन कीड़े-मकौड़ों की जिन्दगी तो व्यर्थ है; हम सोच सकते हैं कि जो कल्याणमार्ग है, आत्मतत्त्व का स्वरूप है वह भी हम सुनते हैं, गुनते हैं; यह मैं आनन्दस्वरूप हूं, हमें तो कहीं दु:ख है ही नहीं, हममें तो कहीं दु:खों का नाम ही नहीं है, ऐसा मैं समर्थ सुखसम्पन्न हूं, कौनसे सुख में कमी है, भूख प्यास की वेदना भी बड़े आराम से मिटाई जा रही है, अनेक पुरुषों से बहुत ज्यादा सुविधाएँ हैं और सत्य धर्म का मिलना यह तो सबसे बड़ा वैभव है, मैं सुखी हूं- ऐसी अपनी भावनाएँ बनायें तो इससे सुख ही सुख है। जैसा यह ध्यान करता है, तैसी ही बात इस पर गुजरती है।

मुक्ति के लिए मुक्ति के अनुरूप ध्यान- मोक्षप्राप्ति के उपकरण में मुझे क्या बनना है? यह बात जब तक चित्त में न उतरे, तब तक इसका उद्यम भी कुछ न हो सकेगा। मुझे मुक्त होना है अर्थात् केवल बनना है, प्योर बनना है; अन्य चीजों के सम्बन्ध से रहित जो कुछ मैं हूं वही मात्र असम्पृक्त शुद्ध रह जाऊँ यह बनना है। ऐसा बनने के प्रोग्राम में यह भी तो ध्यान रहना चाहिए कि ऐसा मैं बन सकने योग्य हूं, क्योंकि स्वभावत: केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। जो अनन्तचतुष्टय, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द प्रकट होगा; वह सब इसकी ही निधि है। ऐसा होने का मेरा स्वभाव है; इस प्रकार सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशक्ति, सहजआनन्दरूप अपने आपका ध्यान करना ही मुक्ति होने का उपाय है। यह बात उनके ही विचार में उतरती है, जो समस्त बाह्यविषय प्रपंचों की वासना से दूर है। जिसने घर में पुत्र, मित्र, स्त्री में, इन मायामय लौकिक पुरूषों की दृष्टि में इज्जत पाने में ही अपना बड़प्पन माना है, उनको यह भक्ति की बात नहीं सुहाती है। उस अज्ञानावस्था में इस मोही पुरुष को ये विषयकषाय और विषयों के साधन हितरूप और सार विदित होते है।

हित का मूल उपाय निर्मोहता- जो भव्यात्मा सर्व विषय वासनावों के प्रपंच से दूर हैं और भली प्रकार सर्व यत्नपूर्वक अपने अन्त:स्वभाव की ओर उन्मुख हैं, जिसने अपने आपमें विराजमान् शाश्वत परमतत्त्व का परिज्ञान किया है- ऐसे जीवन के लिए यह शिक्षा बतायी गई है कि अपने आपमें ऐसी भावना आवें कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूं, सहज दर्शनस्वरूप हूं, सहज आनन्दरूप हूं और सहज चैतन्यशक्तिरूप हूं। यह देह न रहे, यह वैभव उपयोग में न रहे, केवल शुद्धानन्दनिर्भर यह ज्ञानप्रकाश ही उपयोग रहे, मैं एतावन्मात्र हूं ऐसी दृष्टि बने, वहां मोह नहीं रह सकता है। मोह न रहे यह सबसे बड़ा लाभ इससे बढ़कर वैभव कुछ नहीं हैं। मोह होना ही विपत्ति है और निर्मोह होना ही कल्याण है। जो अपने आपको सहज अनन्तचतुष्टयात्मक निरख रहा है, उसके मोह कैसे रह सकता है?

शुद्ध परमाणु के दृष्टान्तपूर्वक शुद्धस्वरूपभावना का कथन- यह मैं आत्मा विशुद्ध केवलज्ञानदर्शनशक्तिमय व आनन्दरूप हूं। जैसे मुक्त परमाणु अर्थात् केवल परमाणु जो किसी स्कंधपर्याय में नहीं है, स्कंध से छूटा हुआ है, मात्र

अणु है और उस परमाणु में कभी शुद्ध स्पर्शरसगंधवर्ण रह जाए अर्थात् जघन्यगुण वाला स्पर्शरसगंधवर्ण रह जाए, जिसके रहने पर इसमें स्कंधरूप होने की योग्यता नहीं है- ऐसा शुद्ध स्पर्शरसगन्धवर्णमय, जैसे परमाणु विशुद्ध है, ऐसे ही सहज ज्ञानदर्शनशक्तिआनन्दस्वरूप यह मैं विशुद्ध आत्मतत्त्व हूं- ऐसी भावना ज्ञानी पुरुष को करनी चाहिए। ज्ञानी पुरुष इस प्रकार की भावना किया करता है।

अहंप्रत्ययवेदन- भैया ! यह जीव किसी न किसी रूप में अहं का प्रत्यय बनाये ही रहता है। मैं क्या हूं? इसकी प्रतीति कुछ न कुछ प्रत्येक जीव को है। चाहे कोई जीव अपने को कीड़ा-मकोड़ा रूप की प्रतीति रखे और चाहे मनुष्य आदिक रूप से अपनी खबर रखे, किन्तु प्रतीति सबको है कि मैं क्या हूं? यहां भी जितने मनुष्य है, सबको अपनी खबर है। मैं अमुक लाल हूं, अमुक चन्द हूं, अमुक प्रसाद हूं, ऐसे घर वाला हूं, अमुक जगह मेरा घर है, ऐसे व्यवसाय वाला हूं, ऐसी पोजीशन का हूं- ये सब बातें भीतर में धंस-धंसकर भरी हुई हैं। कदाचित् ये धर्म की बातें भी यदि करते हैं तो उनके लिए तो कुछ नियत टाइम किया जाता है कि मैं पूजा 20 मिनट तक करूँगा अथवा प्रवचन सुनने का इतना समय नियत किया है, अध्ययन का इतना टाइम नियत किया है। प्रथम तो यह ही निर्णय नहीं है कि जो पूजन; प्रवचन, अध्ययन, ध्यान के लिए समय नियत किया है, उसके बीच में भी हम अपनी बात न रक्खें। मैं अमुक चन्द हूं, अमुक लाल हूं, ऐसी पोजीशन का हूं, इस बात की दृष्टि न रखें तो यह भी नहीं बनता है और कदाचित् इतनी देर को न भी रक्खें ऐसी स्वार्थमयी दृष्टि अथवा पर्यायबुद्धि की प्रतीति का उपयोग, लेकिन नियत समय व्यतीत होने पर किसी ओर प्रकृत्या यह जीव लगता है। अपने आपको किसी न किसी दशारूप अनुभव किए हुए रहता है। अज्ञानी अपने को पर्यायरूप अनुभव किए रहता है, किन्तु ज्ञानी जीव अपने आपसे विविक्त, सर्व परपदार्थों से रहित केवलज्ञानदर्शनशक्तिआनन्दस्वरूप अपने आपकी प्रतीति बनाये रहता है।

अज्ञानी और ज्ञानी का संकल्पित कार्य- भैया ! अब प्रोग्राम की भी बात देखो- अज्ञानी को कई प्रोग्राम पड़े हुए हैं- अब अमुक जगह जाना है; अमुक काम करना है, अमुक दुकान जाना है। अनेक प्रोग्राम बना रहा है यह अज्ञानी, किन्तु ज्ञानी जीव का केवल एक ही प्रोग्राम रहता है अन्तर में, चाहे उसकी साधना के लिए व्यवहारधर्मरूप अनेक बातें हों, पर प्रधानतया एक ही काम बना रहता। वह क्या? मैं अपने आपकी यथार्थरूप से श्रद्धा करूँ और यथार्थरूप को ही जानता रहूं, यही उसके अन्दर प्रोग्राम रहता है। इस दुनिया से बाहर जहां सुख गया, जहां मायामय लौकिक जीवों ने अपने को फँसाया, वहां से तो विडम्बनाएँ शुरू हो जाती हैं, अपने आपमें नहीं रह पाता है, अधीर हो जाता है, विह्वलता बढ़ने लगती है। ज्ञानी जीव अपने को ज्ञायकमात्र उपयोग रखने का यत्न करता है, इससे ज्ञानी जीव के शान्ति बढ़ने लगती है।

निर्दोषता की प्रतीतिमहल पर निश्चयप्रत्याख्यान का श्रृंगार- ज्ञानी जीव निश्चयप्रत्याख्यान के प्रसंग में यह चिन्तन कर रहा है कि मैं केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल आनन्द और केवल शक्तिस्वरूप हूं। प्रत्याख्यान करना है दोषों का। जब तक यह विश्वास में न आयें कि ये दोष तो मेरे में हैं ही नहीं, ये तो जरासी दृष्टि में टल सकते हैं, मेरे घर के नहीं हैं, ये मेहमानरूप आये हुए हैं, ये तो जरासी युक्ति से दूर हो सकते हैं, जब तक अपनी श्रद्धा ये न बने और इस श्रद्धा

का मूल उपाय है अपने आपको निर्दोषस्वरूपमात्र ज्ञानदर्शनात्मक तत्त्वरूप अनुभव में आना, यह भी वृत्ति जब तक न आये तब तक प्रत्याख्यान वास्तव में हो नहीं सकता है। इसी कारण आचार्यदेव ने प्रत्याख्यान के प्रकरण में यह मूलभावना कही है। समस्त पुरुषार्थप्रसार इस भावना के बाद होगा अथवा जितना भी पुरुषार्थ प्रसार है, इस भावना का ही प्रसार है।

भावना का अधिकार- भैया ! जीव भावना के सिवाय और कुछ नहीं करता है। सांसारिक काम भी जहां हो रहे हैं, वहां पर भी यह जीवमात्र भावना बनाता है कि परवस्तु में परवस्तु का कर्तृत्व नहीं होता है। यह जीव न शरीर बना सकता है, न घर- दुकान बना सकता है, यह केवल अपनी भावना बनाता है, वासना बनाता है जो भावात्मक है। अब उसका ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि वासना बनाने के साथ अपने आपमें योगपरिस्पंद हुआ और खलबली मची। अब उसका सम्बन्ध शरीर से है, इस समय तो शरीर के अंगों में भी स्फुरणा हुई है, उसके बाद ये अंगोपांग चले। इन सब क्रियावों के प्रसंग में भी इस जीव ने केवल भावना बनायी, किया कुछ नहीं। भावना से ही यह संसार चला। जिन भावनावों से यह संसार बनता है, चतुर्गति भ्रमण होता है, विपत्तियां आती हैं; उनके विरुद्ध अथवा यों कहो कि सहजस्वभाव के अनुरूप अपनी भावना बने तो यह विपत्ति दूर हो जाती है। इसी भावना का यहां वर्णन किया है। ज्ञानी पुरुष ऐसा चिंतन कर रहा है कि मैं केवल ज्ञान, दर्शन, सुख, आनन्दस्वरूप हूं, इस भावना को दृढ़ कर रहा है, जिसके फल में निश्चयप्रत्याख्यान प्रकट होता है।

वास्तविक अभिरामता- ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल शक्ति के स्रोतभूत सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजसुख और सहजशक्तिस्वरूप का चिंतन कर रहा है। पदार्थ में सुन्दरता पदार्थ के एकत्व में है। अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से निरुपाधि स्वत:सिद्ध जो निजस्वभाव है, उस स्वभाव के उपयोग में ही सुन्दरता है।

श्रुतपूर्व और अश्रुतपूर्व- जगत् के जीवों ने आज तक विसम्वाद करने वाली भोगों की कथाएँ तो सुनी हैं। जिन वचनों से विषयों में आसक्ति होते, जिन वचनों से विषयभोग में उत्साह जगे- ऐसे वचनों के श्रवण में तो इस जीव ने चित्त दिया, परन्तु इस तत्त्व की कहानी में जो स्वयं सुखरूप है, उसमें चित्त न लगाया, यह तो रुचता ही नहीं है। कैसा व्यामोहजाल इस जगत् पर पड़ा हुआ है? अभी कोई खेल तमाशा ही होने लगे, राग-रागिनी रागभरी होने लगे तो सुनने की उत्सुकता अनेकों को जग जाएगी, किन्तु अपने आपकी अन्त:स्वरूप की, अन्त:प्रभु की कहानी जिसके प्रसाद से संसार के समस्त संकट मिटते हैं, उसके सुनने की रुचि नहीं जगती है। इस जीव ने विषयों की कहानी तो बार-बार सुनी, परन्तु केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवलसुखस्वभावरूप जो अपना अद्भूत परम तेज है, उसकी चर्चा नहीं सुनी, जगत् में सब जगह की बातें सुनते जावो, पर सुनने से तृप्ति नहीं होती है, सुनने का काम पूरा नहीं होता है। कितनी ही गप्पें कीजिए, पर गप्पों का काम पूरा नहीं होता है। कदाचित् रात्रि व्यतीत ज्यादा हो जाए और निद्रा आने पर सो जायेंगे; किन्तु जागने पर फिर वही गप्पें प्रारम्भ हो जायेंगी। कितनी ही गप्पें सुनते जावो, पर सुनने का काम पूरा नहीं होता। यह अन्तस्तत्त्व की चर्चा इतनी विशुद्ध चर्चा है कि इसके सुनने पर तृप्ति हो जाती है, सब कुछ सुना हुआ हो जाता है।

दृष्टान्त और अदृष्टपूर्व- इसी प्रकार लोक में कहीं भी कुछ भी रूप देखा, देखते जावो; पर देखने से तृप्ति नहीं होती है, परन्तु एक केवल ज्ञानदर्शनसुखस्वभावरूप निज अन्तस्तत्त्व का अवलोकन हो जाए तो वहां परमतृप्ति होती है और उसके देखने पर सब कुछ देख लिया समझ लीजिए। एक अपने आपके अन्त:स्वरूप का मर्म न देख पाया तो बाहर में सब जगह देखने-देखने की कमी रहती है। एक आत्मस्वभाव के देख लेने पर सब कुछ देख लिया गया।

परिचितपूर्व और अपरिचितपूर्व- जगत् में किसी भी पदार्थ को जानने की उत्सुकता बनायें। बच्चों को भी बहुत सी बातें जानने की उत्सुकता रहती है, बड़े और वृद्ध लोगों को भी जानने की उत्सुकता होती है; किन्तु जानने की पूर्ति नहीं हो पाती है यत्नपूर्वक जानने का यत्न करते रहने पर। निष्कषाय निष्चेष्ट स्वतंत्र स्वयंसिद्धि चैतन्य तेज के जान लेने पर फिर कुछ जानने को शेष नहीं रहता है। यों यह ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वभाव का चिंतन कर रहा है।

निर्दोष भाव के उपयोग में प्रत्याख्यान की पूर्णता- यह है प्रत्याख्यान का अधिकार। भविष्यकाल के समस्त कर्मों का त्याग करना, उनसे निवृत्त होना, यह है प्रत्याख्यान। यह जीव मोहावस्था में गई गुजरी बातों का भी मोह रखता है, वर्तमान में मिले का भी मोह रखता है और भविष्यकाल में जिसके मिलने की आशा की हो, उससे भी मोह रखता है। यह तीनों प्रकार का मोह एक साथ खत्म होता है एक इस निर्मोह आत्मस्वभाव के जानने पर। ऐसी सुसिद्ध स्थिति में प्रतिक्रमण आलोचना और प्रत्याख्यान की पूर्णता होती है। जब तक दोषों से रहित शुद्ध ज्ञानप्रतिभासमात्र निष्तरंग नीरंग आत्मस्वभाव का अवलोकन नहीं होता, तब तक प्रत्याख्यान सही मायने में नहीं बन सकता।

सहज स्वभाव के आश्रय बिना प्रत्याख्यान का अभाव- कोई पुरुष अपने धर्मपालन की धुन में बड़ा धर्म करता हो, धर्म करने से स्वर्ग मोक्ष मिलता है इसलिए धर्म की धुन बनाए है और उस धर्म की धुन में बड़े बड़े त्याग भी कर ले तो भी मैं धर्म कर रहा हूं, मैं धर्मात्मा हूं, इस प्रकार की जो एक कल्पना लगी है तो उसके प्रत्याख्यान कहां से हो? परमार्थ से प्रत्याख्यान तब तक नहीं हो सकता, जब तक अपने आपमें स्वत:सिद्ध निर्विकल्प सहजस्वभाव का अवलोकन नहीं होता है।

कारणसमयसार की उपासना के प्रसाद से कार्यसमयसारपना- इस कारणसमयसार की उपासना के प्रसाद से अरहंत और सिद्ध अवस्था प्रकट होती है। कैसा है सर्वज्ञपरमात्मा का विलास? हम आप सबकी भांति अमूर्त चैतन्यमय पदार्थ है, किन्तु निर्दोष निरावरण होने से इसका विकास हो गया है कि समस्त लोक और अलोक उसके ज्ञान में एक साथ प्रतिभास हो गया है और जितने भी कुछ परिणमन थे वे होंगे, वे अनन्तरूप से प्रतिभात हुए हैं, ऐसा केवलज्ञान की मूर्तिरूप सर्वज्ञदेव जयवन्त हो।

कार्यसमयसार की अनन्तचतुष्टयात्मकता- इस सर्वज्ञ परमात्मा का आत्मदर्शन भी अलौकिक है। केवलज्ञान के साथ ही साथ निरन्तर केवलदर्शन भी वर्तता रहता है। कैसी निर्विकल्पावस्था है? जहां निर्विकल्प प्रतिभास और सविकल्प प्रतिभास दोनों प्रकार के ज्ञान दर्शन एक साथ बर्त रहे हों, उसके चमत्कारों को कौन कह सकता है? यह प्रभु सर्वज्ञदेव शाश्वत आनन्दस्वरूप है। आनन्द नाम है अपने समस्त गुणों से समृद्ध हो जाने का। वह प्रभु समस्त विश्व

को जानता है, फिर भी निज आनन्दरस में लीन रहता है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा को कहा गया है। सत्, चित् और आनन्द तीनों गुणों का उसमें पूर्ण विकास है। यहां सत् मायने शक्ति के हैं और चित् नाम ज्ञान दर्शन का है और आनन्द नाम आनन्द का है। सच्चिदानन्द शब्द में अनन्तचतुष्टय की ध्वनि भरी हुई है। सत् मायने सद्भूत है। क्या वह है कुछ? चित् मायने ज्ञानदर्शनात्मक और आनन्द समस्त गुणों के शुद्ध विकास से समृद्ध होने का है। सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत अनन्तवीर्यात्मक परमात्मा मेरे उपयोग में विराजमान् रहे, जिस स्वरूप का बड़े-बड़े पुरूष भी अपने चित्त में ध्यान कर रहे हैं।

शान्तिप्रद ध्येय- भैया !लोक मेंध्यान करनेयोग्य क्या पापी मलिन जीव है? उनका ध्यान करने में कौनसी सिद्धि है? व्यवहार लोक का है, यह ठीक है; व्यवहार के वचन बोले जायें, यह ठीक है; किन्तु ध्येयरुप तो मलिन पुरुष नहीं है, बल्कि भगवान है और उसमें भी भगवान का जो शुद्ध विकास है, वह जिसके ध्यान के प्रताप से होता है; ऐसा जो कारणभगवान है, वह हम आप सबके घट घट में विराजमान् परम ध्येय है। उस स्वभाव के ध्यान करने में ये समस्त प्रत्याख्यान हो जाते हैं। यह स्वभाव समस्त मुनियों के ध्यान करने के योग्य है। कितनी महान् दृष्टि भरी है अपने आपके एकत्वस्वभाव के दर्शन में? वे चक्रवर्ती जिनकी सेवा में 32 हजार मुकुटबद्ध राजा लगा करते थे, उन्हें भी वहां उस समागम के बीच आनन्द नहीं आया। जब सबका संन्यास करके निर्जन वन में आत्मध्यान करते हुए विराजे, जिनको बात करने के लिए स्वयं की आत्मा थी; यही पूजक, यही पूज्य, यही भावक, यही भाव्य, यही ध्याता, यही ध्येय- ऐसी उत्कृष्ट स्थिति में उन्हें आनन्द मिला; किन्तु इतना बड़ा समागम 6 खण्ड का राज्य जिसके अधिकार में समझो- ऐसे उच्च पुरुष को वहां शान्ति नहीं मिली। पर के सम्बन्ध से शान्ति हो ही नहीं सकती। शान्ति वहां होती है जहां शान्तस्वभाव का उपयोग रहता है। इस प्रकार इस निश्चयप्रत्याख्यान के प्रसंग में ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल शक्तिस्वरूप आत्मतत्त्व का चिंतन कर रहा है।

प्रत्याख्यान प्रकाश- प्रत्याख्यान चारित्र का ही एकरूप है। सम्यक्त्व होने पर भी प्राक् पदवी में कितने ही दोष लगते रहते हैं। सम्यक्त्व में केवल एक ज्ञानप्रकाश ही तो हुआ। जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थ का सही परिज्ञान और विश्वास होता है; किन्तु पूर्वकालीन जो वासना और संस्कार चला आ रहा है, उसकी वजह से जो कुछ शेष रागवासना है, उसके कारण अपराध हो रहे हैं। उन अपराधों का प्रत्याख्यान होना मोक्षमार्ग की प्रगति में अत्यन्त आवश्यक है। मैं आगे स्वरूपविरूद्ध कार्य न करूँगा, ऐसी दृढ़ता बिना दोषों की शुद्धि नहीं होती है। प्रत्याख्यानस्वरूप अन्तस्तत्त्व समस्त मुनिजनों का ध्येय है। अब ज्ञानी पुरुष प्रत्याख्यान के प्रसंग में और क्या चिंतन कर रहा है, इसका वर्णन कर रहे हैं।

गाथा 97

णियभावंण हि मुं चदि परभावं णेव गिण्हदे जो हु।

जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतये णाणी।।97।।

ज्ञानी का स्वात्मचिंतन- मैं कौन हूं? मैं वह हूं जो सबको जानता और देखता हूं। यहां ग्रहण करना और छोड़ना कुछ भी नहीं है। ग्रहण करने और छोड़ने की बात भी यदि समझी जाए तो यह है कि मैं अपने भाव को कभी नहीं छोड़ता हूं और परभाव का कभी ग्रहण नहीं करता हूं। जो न निजभाव को छोड़ता है, न परभाव को ग्रहण करता है, केवल सबको जानता और देखता है, वह मैं हूं। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है।

निजभाव का अपरिहार और परभाव का अग्रहण- भैया ! अपना तत्त्व, अपना स्वभाव कभी छूट नहीं सकता है। यह कोई जीव भी संसारी अथवा मुक्त अपने भाव को छोड़ नहीं सकता है; किन्तु अपना स्वभाव अपने आपमें तन्मय है। फिर भी जो अपने स्वभाव का ज्ञाता नहीं है, स्वभाव का उपयोग नहीं कर सकता है, उस पुरुष को अज्ञानी कहा है। उसने अपने भाव को छोड़ दिया है यह कहा जाता है। इसने अपने स्वभाव को छोड़ दिया, इसका अर्थ यह है कि यह उपयोग में अपने स्वभाव को ग्रहण नहीं करता है, जानता नहीं है; इस प्रकार कोई भी जीव परपदार्थ को ग्रहण नहीं कर सकता है। और भी अन्तर में निरखो तो परपदार्थ के निमित्त से उत्पन्न हुए जो परभाव हैं, उन परभावों का भी ग्रहणकर्ता हुआ नहीं रह सकता है। यद्यपि रागद्वेषादिक परभाव आत्मा में होते हैं और उस काल में आत्मा में तन्मय रहते हैं, किन्तु उन्हें तुरन्त छूटना पड़ता है। कोई भी रागद्वेष पर्याय ऐसा नहीं है कि वह होकर रह गई, छूटे नहीं। छूटते ही हैं, भले ही दूसरा रागद्वेष आ जाए; परन्तु जो रागद्वेष परिणमन होता है वह परिणमन टिक नहीं सकता, छूट जाता है।

वस्तुस्वरूप में स्वभाव का सत्त्व व परभाव का असत्त्व- मैं किसी भी परपदार्थ को और परभाव को ग्रहण नहीं करता हूं। यह तो वस्तु का स्वरूप है। मैं ही क्या, जगत् में जितने भी अनन्त पदार्थ हैं, कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं है और पर के स्वरूप को ग्रहण नहीं करता है। यदि कोई पदार्थ अपने स्वरूप को छोड़ने लगे तो वह असत् हो जाएगा या पर के स्वरूप को कोई ग्रहण करने लगे तो वह असत् हो जाएगा। ये सब पदार्थ अब भी मौजूद हैं। यही इसी बात का प्रमाण है कि अनादिकाल से प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत् में रहा आया है। किसी परसत्त्व को ग्रहण नहीं कर सका।

परमार्थ की आन्तरिक चर्चा- यह ज्ञानी पुरूष अपने आपके बहुत अन्तर में प्रवेश करके यह देख रहा है कि मेरा जो शाश्वत परमपारिणामिक भावरूप ज्ञायकस्वभाव है, वह स्वभाव निजभाव है, उसको मैं कभी नहीं छोड़ सका, न छोड़ सकता हूं, न छोड़ सकूँगा। उस ज्ञायकस्वरूप के अतिरिक्त जितने भी अन्य तत्त्व हैं अथवा परभाव, औपाधिक भाव हैं, उनको यह मैं ग्रहण नहीं कर रहा हूं। मैं क्या हूं? इसका ठीक निर्णय करके इस प्रकरण को सुनना। मैं मनुष्य

नहीं हूं अथवा रागद्वेषादिकमय जो परिणमन हैं वे परिणमन मैं नहीं हूं अथवा किसी प्रकार का अपूर्ण पूर्ण स्वभावपरिणमन है, उस स्वभावपरिणमन को यहां यह मैं नहीं कह रहा हूं, किन्तु मैं अपने आपका ध्रुव यथार्थ जो तत्त्व है, उसकी बात कर रहा हूं। वह यह मैं निजभाव को छोड़ता नहीं हूं और किसी परभाव का ग्रहण नहीं करता हूं, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहा करता हूं।

आत्मभाव की अभिमुखता व परभाव की विमुखता- भैया ! इस जीव ने मुफ्त ही संकट अपने आप पर लाद रक्खें हैं, यह तो केवल भाव ही बना पाता है। अमूर्त आत्मा जो न किसी को पकड़ सकता है, जिसे न कभी कोई दूसरा पकड़ सकता है, जिसका किसी परपदार्थ से स्पर्श भी नहीं होता है, देह में बंधा है, फिर भी उसका एक आश्रय-आश्रयी बंधन है, निमित्तनैमित्तिक बंधन है। आत्मा इस शरीर को छू रहा हो, जकड़ रही हो, इसमें शरीर की कहीं गांठ लग रही हो- ऐसा कुछ नहीं है। कितना विचित्र खेल है कि शरीर के प्रदेशों से बाहर अभी यह टस से मस भी नहीं हो सकता, फिर भी यह आत्मा इस शरीर को छुवे हुए नहीं है। यह किसी को छूने वाला नहीं होता है, फिर ग्रहण करने और छोड़ने का कथन कहां से हो? जो न निज शाश्वतस्वभाव को छोड़ सकता है और जो न किसी पर को अथवा परभाव को ग्रहण कर सकता है, केवल सर्वदा निरन्तर जानता और देखता रहता है, ज्ञातृत्व और दृष्टित्व स्वभावरूप है, वह मैं हूं। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है। इस चिंतन में परमभाव की अभिमुखता पड़ी हुई है और समस्त परभावों से विमुखता पड़ी हुई है। दोषों का परित्याग विधिपूर्वक तब ही सम्भव है, जब दोषों से पूर्ण विमुखता हो और निर्दोष शाश्वतस्वरूप की अिभमुखता हो। वह समस्त प्रकार का कार्य धर्म है, जिसमें आत्मभाव की तो अभिमुखता हो और परभावों की विमुखता हो। धर्म किसका नाम है? अपने स्वभाव के निकट आये और परभावों से विमुखता आये, उसका नाम है धर्म। धर्म के साधक जितने उपाय हैं, वे सब कुछ इस धर्म के लिए हैं, इसी में प्रत्याख्यान भी है।

मन से प्रत्याख्यान- यह ज्ञानी पुरुष व्यवहारप्रत्याख्यान में दक्ष हो चुका है। विधिपूर्वक दोषों का प्रत्याख्यान करके जो शुद्ध हृदय वाला हुआ है, ऐसा पुरुष निश्चयप्रत्याख्यान करने का पात्र है। प्रत्याख्यान नवकोटि से किया जाता है। मन से दोषों का विचार न करना, दोषों का मन में न रखना और न ही अपनाना, दोषों में उत्साह न जगना- यह मन द्वारा प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान भविष्यकाल के दोषों का हुआ करता है और यह मानसिक प्रत्याख्यान भी तीन प्रकार से रहता है- उस दोष को न मन से करूँगा, न मन से कराऊँगा और न करते हुए को मन से अनुमोदन दूंगा। प्रतिक्रमण करने वाला पुरुष दोषों को असार जानकर अपने आपके स्वरूप को पवित्र निहारकर भविष्यकाल में सदा के लिए उसका दृढ़ संकल्प हो जाता है। यों मन से कृतकारित अनुमोदनाविषयक दोषों का प्रत्याख्यान करता है।

वचन और काय से प्रत्याख्यान- ज्ञानी पुरूष वचनों से भी कृतकारित अनुमोदना का प्रत्याख्यान करता है। मैं वचनों से न किसी अपराध को करूँगा, न वचनों से किसी अपराध को कराऊँगा और अपराध करते हुए कि वचनों से अनुमोदना भी न करूँगा। जहां कृतकारित और अनुमोदनाविषयक भी अपराध का त्याग होता है, शुद्धि वहां प्रकट

होती है। ज्ञानी काय द्वारा भी भविष्यत् कृतकारित अनुमोदना के पाप का परित्याग करता है। मैं शरीर से किन्हीं अपराधों को न करूँगा, न किसी से कराऊँगा और न करते हुए की अनुमोदना करूँगा।

मन वचन काय से अनुमोदना के रूप और उनका प्रत्याख्यान- अनुमोदना भी मन से, वचन से और काय से हो जाती है। अपराध करने वाले के प्रति मन में अनुराग जगाना, मन में भला चिंतन करना, यह मनकृतअनुमोदना है। वचनों से अनुमोदना तो प्रकट जाहिर होती है। वचनों से किसी को शाबासी देना, भला कहना, यह सब वचनकृत अनुमोदना है। अपने शरीर की चेष्टा करके, हाथ की अंगुली हिलाकर, थोड़ा सिर नीचे की ओर हिलाकर, काय की चेष्टा करके बढ़ावा देना, यह कायकृत अनुमोदना है। इन सब प्रकार के अपराधों का जिसने प्रत्याख्यान किया है और केवल निज अन्तस्तत्त्व के दर्शन के लिए ही तो उद्यत हुआ है, ऐसा पुरुष अपने आपमें क्या चिंतन करता है, उसकी बात कही जा रही है।

निजभाव के वियोग का त्रिकाल अभाव- यह कारणपरमात्मा, अन्तरात्मा, महात्मा, मोक्षमार्गी जीव अपने आपके परमभाव को कभी नहीं छोड़ता है। जो मुझसे छूट जाय, वह मेरी चीज नहीं है। जो मुझसे कभी न छूटे वह मेरी चीज है। मेरी चीज मुझसे छूट जाये यह त्रिकाल नहीं हो सकता। जो छूट गये हैं अथवा जो छुट सकते हैं, उन्हें अपना मानना यह तो अज्ञान है, मिथ्यात्व है। मिथ्यावासना में शान्ति कभी आ ही नहीं सकती है, बल्कि मिथ्यावासना में रहकर जितनी बाहर उपयोग की दौड़ लगा ली जाए, उतना ही उसे लौटना पड़ेगा और तब यथा स्थिति पर आएगा, जहां से आत्महित का काम प्रारम्भ हो सकेगा। यह कारणपरमात्मा ज्ञानी पुरूष कभी भी अपने भाव को नहीं छोड़ता है। इस भाव को तो कोई भी जीव नहीं छोड़ता है, किन्तु जिसका निजभाव पर उपयोग नहीं, उसे छोड़ने वाला कहा गया है।

त्रिकाल निरावरण निरंजन भाव- आत्मा का भाव त्रिकाल निरावरण है। स्वभाव का आवरण नहीं होता। स्वभाव के विकास का आवरण हो सकता है। स्वभाव शक्तिरूप है और वह शाश्वत् अन्त:प्रकाशवान् है, वह तो सत्तासिद्ध स्वरूप है। त्रिकाल निरावरण यह अन्तस्तत्त्व सदा निरंजन है। इसमें किसी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव का स्पर्श नहीं होता, स्वभावरूप ही रहता है यह। कैसा है वह आंतरिक तत्त्व कि जिसमें परउपाधि का निमित्त पाकर कितना ही विपरीत परिणमन भी हो जाए, फिर भी स्वभाव स्वभाव ही रहता है, उसमें अन्तर नहीं आता? यह जीव रागद्वेषमय, आकुलतामय हो रहा है। कितने विरुद्ध परिणमन में चल रहा है? इतने विपरीत परिणमन के बावजूद भी इस आत्मस्वभाव में अणुमात्र भी अन्तर नहीं आया। स्वभाव का विकास तिरोहित हो गया है, अल्प विकसित है, फिर भी स्वभाव में अणुमात्र भी परिवर्तन नहीं है। यह शक्तिरूप है और द्रव्य का प्राणभूत है- ऐसा त्रिकाल निरावरण निरंजन जो निज परमभाव है, परमपारिणामिकभाव है, जिसका परिणमन ही प्रयोजन है, किन्तु वह शक्तिरूप शाश्वत वही का वही है- ऐसे इस परमभाव को जो कभी नहीं छोड़ता है, वह मैं अन्तस्तत्त्व हूं।

अपरिणामी पारिणामिक भाव- भैया !यहआत्महित का प्रकरण है। इसमें आत्मा के शुद्ध शाश्वतस्वरूप की चर्चा की जा रही है। इस स्वरूप को ही पूर्णरूप मानकर अनेक सिद्धान्तों में इस ब्रह्मतत्त्व को सर्वव्यापक और अपरिणामी बताया है। ठीक है एक दृष्टि से और इस दृष्टि में कल्याण निहीत है, किन्तु वस्तु की पूर्णता इतने में नहीं है। इसी कारण इस ब्रह्मस्वरूप से भिन्न जीव पदार्थ और मन पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु वास्तव में यह ही ब्रह्मतत्त्व जो स्वभावत: अपरिणामी है, परिणमता नहीं हैं, परिवर्तित नहीं होता, अन्यरूप नहीं बनता, फिर भी चूंकि परिणमन बिना कोई भी पदार्थ अपना अस्तित्व ही नहीं रख सकता; अत: इसका जो परिणमन है, वह सब है अन्य सिद्धान्तों के द्वारा कल्पित जीव। चीज एक है, जिसका परिणमन है उसे तो ब्रह्म कह लो और जो परिणमन है उसे जीव कह लो। परिणमन और परिणामी कोई भिन्न नहीं हुआ करते हैं।

अन्त: परमब्रह्म दर्शन का निर्देशन- अहा, अन्त:स्वरूप में समाया हुआ यह परमब्रह्म अज्ञानियों को अप्रकट और ज्ञानियों को विशदरूप से प्रकट दिखता है। इस कारण प्रभु की जो उपासना करता है, वह ही पुरूष कार्यप्रभु होता है। ईश्वर के नाम पर, ईश्वर की भक्ति के नाम पर आज यह विवेकी जगत् यत्नशील हो रहा है, किन्तु बाहर कहीं ईश्वर को ढूँढ़ने जायें और बाहर में किसी व्यक्ति में ईश्वर की कल्पना करके भक्ति किया करें तो वहां संतोष न मिल सकेगा। संतोष मिल जाता तो फिर देखने खोजने की व्यग्रता न रहती। क्यों नहीं मिल पाया उन्हें संतोष? इसका कारण यह है कि जहां ईश्वर है वहां देखता नहीं, जो ईश्वरस्वरूप है उसे देखता नहीं, इस कारण व्यग्रता है।

भक्तिदृष्टान्तपूर्वक अन्त:प्रभुदर्शन का समर्थन- ईश्वरस्वरूप अपने आपके अंतरंग में है। जैसे मंदिर में मूर्ति के आगे हाथ जोड़कर भी यदि चित्त में यह कल्पना न जगे कि ऐसे वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव आकाश में ऊपर विराजमान् रहा करते हैं, उनको मेरा नमस्कार हो, उनकी भक्ति के प्रसाद से मेरे में परम निर्मलता हो, उस अरहंत प्रभु को यहां अरहंत प्रभु की स्थापनारूप मूर्ति के समक्ष अपने निर्दोषता के प्रकट होने की भावना करते हुए नमस्कार करता हूं, यह दृष्टि न जगे; किन्तु केवल सामने जो कुछ मूर्ति दिख रही है, यही भगवान है, यही मेरे समस्त कार्यों की सिद्धि करेगा, उसको मेरा नमस्कार हो। इतनी ही मात्र जिसकी दृष्टि हो, वहां प्रभुभक्ति नहीं कही जा सकती है। ऐसे ही अपने आपमें शाश्वत अन्त:प्रकाशमान् जो चैतन्यस्वरूप है, परमऐश्वर्य है, शुद्ध ज्ञानविकास है, सहजभाव है, उसका उपयोग न करे और व्यग्र होकर बाहर ही बाहर ऊपर नीचे कहीं ईश्वर को खोजा करे तो उसे ईश्वर का मिलन नहीं हो सकता है। ईश्वर हमें जब मिलेगा, तब हमारा बनकर मिलेगा, वह हमसे अलग होता हुआ नहीं मिल सकता है; वह तत्त्व इस कारणसमयसार में है।

अधसमूह के विलयन में कारणप्रभु की समर्थता- यह कारणप्रभु चैतन्यस्वरूप समस्त पापों की वृत्ति को जीतने में समर्थ है। आत्मक्षेत्र को छोड़कर अन्य पदार्थों में अपना बड़प्पन देखने की वासना करना, यही है पापसमूह। विषयों में प्रवृत्ति करके अपने को सुखी मान लेने की वासना होना, यही है पापसमूह। इन पापबैरियों ने अपनी विजयपताका इस जगत् में स्वच्छन्द होकर; उद्दण्ड होकर फहरा दी है और ये समस्त बराक जीव अपनी पताकाओं के नीचे रहकर अपने को

सशरण माने हुए हैं। ऐसे उद्दण्ड पापबैरियों की इस पताका को लूट लेने में समर्थ, निर्मल नष्ट करने में समर्थ यह कारणपरमात्मपदार्थ है। निर्दोष निर्लेप स्वतंत्र आत्मतत्त्व की भावना जगे, वहां एक भी क्लेश, एक भी पाप ठहर नहीं सकता है।

निजभावमयता और परभावविविक्तता- इस त्रिकाल निरावरण निरंजन परमपारिणामिक भावरूप शुद्ध जीवत्वस्वरूप निजभाव को यह जीव कभी नहीं छोड़ता है। जो निजभाव को कभी नहीं छोड़ता है, वह मैं हूं। यह मैं निजभाव को छोड़ता नहीं हूं और परभाव को त्रिकाल कभी भी ग्रहण करता नहीं हूं। यहां 'मैं' शब्द कहकर उस सहज शुद्ध "मैं" पर दृष्टि डालना, अन्यथा मैं अमुकचन्द, अमुकप्रसाद यह मैं हूं- ऐसी दृष्टि रहेगी तो वहां यह तत्त्व कुछ नजर न आएगा। वहां तो केवल संसार के क्लेश ही अनुभूत होंगे। मैं यह कौन हूं? इसको उपयोग द्वारा पकड़िये। इस नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म को पार करके तथा स्वभावपर्याय से भी परे भीतर चलकर शाश्वत विराजमान् परमब्रह्म स्वभाव को लक्ष्य में लेकर कहिये कि यह मैं हूं। यह मैं परभाव को त्रिकाल भी नहीं ग्रहण करता हूं।

रागादिकों की परमभावरूपता का विवरण- परभाव रागादिक हैं। परपदार्थों का निमित्त पाकर होने वाले भाव को परभाव कहते हैं। वे कैसे उत्पन्न होते हैं? इसकी मुख्यता यहां नहीं लेनी है, किन्तु ये पर का निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ करते हैं, इस कारण ये रागादिक परभाव कहलाते हैं। जैसे धूप में हाथ करने पर जमीन पर छाया पर्याय बन जाती है। वह छाया किसकी है? उपादानदृष्टि से तो यह उत्तर मिलेगा कि वह छाया उस पृथ्वी की है जितनी पृथ्वी छायारूप परिणमी हैं, परन्तु छाया बनी रहे, हट जाए, इन सबकी कला का निमित्त तो हाथ है। हाथ कर दिया तो छाया हो गई, हाथ हटा लिया तो छाया हट गई। अब यह बतलावो कि उस छाया पर हुकूमत किसकी रही? हाथ की। इस कारण छाया परभाव है। यह सब निमित्तदृष्टि से, व्यवहारदृष्टि से, विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयदृष्टि से कहा जा रहा है। वह छाया पृथ्वी की चीज नहीं है। जैसे प्रकाश होना पृथ्वी की चीज नहीं है, इस पृथ्वी की वह पर्याय है। अँधेरा होना पृथ्वी की चीज नहीं हैं, वरन पृथ्वी ही की पर्याय है; पर प्रकाश और अंधेरापृथ्वी का निजी भाव हो तो पृथ्वी में सदा रहने चाहियें। जैसे अन्धेरा हो तो भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण उसमें बना रहता है, और उजाला हो तो भी बना रहता है, वह नहीं छूटता है। जो स्वाधीन है कभी न छूटे ऐसा स्वरूपरूप है, वह निजभाव है।

रागादिकों की परभावरूपता के कारण का समर्थन- ये रागादिक परभाव हैं, क्योंकि विभावरूप पुद्गलद्रव्य के संयोग से उत्पन्न होते हैं। दोष किसके निमित्त से प्रकट होगा? उसी के निमित्त से प्रकट होगा जो स्वयं दोषी हो। आत्मा में रागादिक विभाव प्रकट होते हैं तो उन रागादिक भाव के होने में निमित्तभूत जो परपुद्गल हैं, वे शुद्ध पुद्गल नहीं हो सकते; वे विभावपुद्गल ही होंगे। अत: विभावपुद्गलरूप परउपाधि के संयोग में ये रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं।

संसरण का कारण- ये रागादिक समस्त विभाव द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भावसंसार और भवसंसार पांचों प्रकार के संसरणों की वृद्धि का कारण है। कितना समय गुजर गया हम आपको इस दुनिया में रहते हुए, पर क्या कोई दिन नियत कर सकते हो कि मैं उस दिन से पहिले संसार में नहीं घूम रहा था? अच्छा, यदि नहीं घूम रहे थे तो बतावो किस स्थिति में थे यह तो नहीं हो सकता कि आप सत् ही न थे। जो सत् नहीं है उसका किसी भी रूप में प्रादुर्भाव नहीं होता है। मैं सत् हूं। कबसे सत् हूं? इसका भी समय नियत नहीं किया जा सकता। यदि सत्त्व का भी समय नियत हो जाए तो क्या कुछ कल्पना में ऐसा आ सकता है कि मैं अमुक समय से सत् हूं और पहिले न था? न था तो यह मैं उपादान आ कैसे गया? मैं अनादि से सत् हूं और अनादि से इस संसार में रहता हूं। सो अनादि से पाँच प्रकार के संसरण में चल रहा हूं व न चेता तो चलूँगा।

अनादिसंसरण और विविक्तरूपता- अनादि से यदि मैं संसार में न होता, कभी पहिले संसाररहित होता अर्थात् शुद्ध, केवल, ज्ञाताद्रष्टास्वरूप, निर्दोष, निर्लेप, निरंजन सर्वथा होता तो फिर उसका कारण बतलावो वैज्ञानिक की कौनसी विधि फिर ऐसी बन गयी कि इस जीव को रागादिक में पड़ना पड़ा और संसार की गतियों में भ्रमण करना पड़ा? ऐसा कोई कारण नहीं हो सकता है। ये रागादिक भाव जो पाँच प्रकार से संसार की वृद्धि का कारण हैं, विभावरूप कर्मोदय का निमित्त पाकर जो उत्पन्न होते हैं, इन परभावों को यह मैं ग्रहण नहीं करता हूं। उन्हें न मैंने कभी ग्रहण किया, न मैं कुछ भी ग्रहण कर रहा हूं और न भविष्य में कभी ग्रहण कर सकूँगा।

निजस्वरूप का चिंतन- यहां जिस "मैं" की बात कही जा रही है, उस "मैं" की दृष्टि को थोड़ी देर को भी ओझल न करना तो इसका स्वरूप विदित होगा और यह कथन सत्य लगेगा। अहो, वह यह मैं हूं जो निज भाव को कभी छोड़ता नहीं है और परभाव को कभी ग्रहण करता नहीं हूं, वह मैं क्या हूं? अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञायकस्वरूप हूं। यह मैं सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजसुख, सहज शक्तिरूप हूं। यह अभेद का अभेद की सीमा पर भेद में अभेद रखा जा रहा है। ज्ञानी पुरुष अपने आपमें ऐसी भावना कर रहा है कि कार्यरूप प्रभु अनन्तचतुष्टयस्वरूप है तो यह मैं कारणस्वरूप सहज अनन्त चतुष्टयरूप हूं। इस भावना में सर्वदोषों का प्रत्याख्यान हो रहा है। इसी से इस प्रत्याख्यान का भाजन आनन्दस्वरूप का चिंतन कर रहा है।

कारणसमयसार की भावना का अधिकारी- मैं कारणसमयसारस्वरूपरूप हूं- इस प्रकार की भावना कौन आत्मा कर सकती है? इस भावना को वही निकटभव्य कर सकता है, जिसने निज निरावरण सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का यथार्थ बोध किया है। इस ज्ञायकस्वरूप के बोध के द्वारा जो अपने आपके सदामुक्त कारणपरमात्मा को जानता है और ऐसे ही सहज अवलोकन के द्वारा देखता है, वही पुरुष यह मैं कारणसमयसार हूं- ऐसी भावना करता है। आत्मस्वभाव को सदामुक्त कहा गया है। भगवान अरहंत सिद्ध कर्मनिर्मुक्त है, किसी दिन से मुक्त है और उनमें उनके गुणविकासों का स्रोत जो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव है, वह सदामुक्त है। हम आपमें यह स्वरूप सदामुक्त है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से, वर्तमान परिणमन की दृष्टि से हम सब कर्मनिर्मुक्त नहीं हुए हैं। वस्तु का स्वरूप सदा अन्य समस्त पदार्थों से विविक्त

रहा करता है, अन्यथा सत्त्व ही नहीं ठहर सकता। मैं अपने आपके सत्त्व के कारण किस भावरूप हूं? मेरा क्या स्वभाव है? जो कुछ भी हो वह मेरे सत्त्व के कारण स्वयं स्वत: सहज सिद्ध है, उसमें में ही मात्र हूं, इसमें किसी अन्य पदार्थ का प्रवेश नहीं है। ऐसा परमविविक्त यह मैं कारणसमयसार हूं, ऐसी ज्ञानी भावना करता है।

सदामुक्त की कर्मनिर्मुक्तिपरता- कारणसमयसारस्वरूप यह अन्तस्तत्त्वसदामुक्त है। यह सदामुक्तस्वरूप कर्मनिर्मुक्त होने के लिए ही निरन्तर तैयार बना हुआ है। इसी के आश्रय कार्यपरमात्मतत्व प्रकट होता है। इसी कारण इसे कारणपरमात्मा कहते हैं। जो कार्यपरमात्मा हुए हैं, भगवान हुए हैं, वे कोई नई चीज नहीं बने हैं। जो था अनादि से, वही दोषमुक्त हो गया है अर्थात् यह ही चैतन्य उपाधियों से रहित होकर अपने असली रूप में आ गया है। भगवान होने के लिए कोई नई चीज नहीं बननी है, न कोई नई बात करनी है, किन्तु भ्रमवश जो फालतू बातें लाद ली है, जो मेरे स्वभाव में नहीं है- ऐसी फालतू बातों का अभावभर करना है। चीज तो जो है सो ही प्रकट हो जायेगी।

परतत्त्व की आवरणरूपता- भैया ! पत्थर में मूर्ति बनाने वाले कारीगर कुछ नई चीज नहीं बनाते हैं। जो न हो ऐसी कोई चीज जोड़ देते हो, ऐसा तो नहीं करते हैं; किन्तु जिस चीज को प्रकट करनी है, वह चीज तो उस पत्थर में मौजूद है, केवल उस पर जो फालतू पत्थर पड़े हुए हैं, जो कि मूर्ति का लक्ष्य करने वाले कारीगर को विदित हैं, उन फालतू पत्थरों को अलग कर देने से चीज वही की वही व्यक्त हो जाती है। ऐसे ही ये ज्ञान दर्शन आनन्द शक्तिस्वरूप सर्वद्रव्यों में सारभूत परम श्रेष्ठ आत्मा जिन राग, द्वेष, मोह भावों से ढका हुआ हैं, उन भावों को दूर करता है।

फालतू भाव- वे रागादिकभाव फालतू भाव हैं अर्थात् आत्मा के स्वरूप के ये भाव नहीं हैं। मूर्ति को आवरण करने वाले फालतू पत्थरों में और इस आत्मतत्त्व का आवरण करने वाले फालतू भावों में इतना अन्तर जरूर है कि ये तो रागादिक भाव एकक्षेत्रावगाह हैं और तन्मय हैं। जिस काल में ये मलिन भाव होते हैं, उस काल सर्व आत्मप्रदेशों में तन्मय हैं, किन्तु वे आवरक पत्थर व्यक्त होने वाली मूर्ति में तन्मय नहीं हैं और न क्षेत्रावगाह हैं। इतना अन्तर है तो भी चूँकि आत्मा की ओर से आत्मा के निमित्त से आत्मा में ये भाव नहीं होते हैं, इस कारण परभाव हैं, फालतू हैं। फालतू उसे कहते हैं जिनके प्रति यह दृष्टि हो कि ये मुझे नहीं चाहियें। यह मेरे पास फालतू ही हैं, इनसे मुझे कुछ लाभ नहीं है, नुकसान ही है, ये मेरी चीज नहीं हैं, मेरा इनमें चित्त नहीं है, जो चाहे लूट ले जाए, जहां चाहे वहां जावें अथवा नष्ट हो जावें, इनसे मेरा कुछ भी मतलब नहीं है- इस प्रकार की वृत्ति जिन भावों के प्रति हो, उन भावों को फालतू भाव कहते हैं।

फालतू का सम्पर्क बरबादी का कारण- ज्ञानी जीव जानता है कि ये राग-द्वेष-मोह आदिक भाव फालतू हैं। इन भावों से मुझे लाभ नहीं है, बरबादी ही है। जगत् के सभी जीव जुदे हैं। उन सब जुदे जीव में से दो-चार जीवों को अपना मान लेना और ऐसे भ्रम में जीवन गुजारकर मर जाना, कहीं के कहीं पैदा होना ये सब बातें है। ये मूढता भरी बातें हैं। ये विडम्बनाएँ फालतू चीजें अपनाने के फल हैं। ये रागादिक भाव मेरी बरबादी के लिए होते हैं। ये कैसी प्रकृति के हैं कि

जैसे मीठा विष हो तो लोभी पुरुष उसे खाये बिना नहीं मानते हैं और खा लेने पर उनके प्राण चले जाते हैं। ऐसे ही ये राग, ये सम्पदा, ये इज्जत ये सब मीठे विष हैं। मोही जीव इन विडम्बनावों में पड़े बिना चैन नहीं मानता और इन विडम्बनावों में पड़ने का फल यही होता है कि ये मुग्ध प्राणी संसार में जन्म-मरण पाते रहते हैं।

मुक्तिवैभव- भैया ! संसार के जन्म-मरण से छुटकारा पा लेने के समान कुछ अन्य कल्याण की भी बात है क्या? यह सर्वोपरि बात है। एक आत्मदर्शन मिले, आत्मकल्याण जगे, इसके मुकाबले में सारी सम्पदा भी नष्ट हो, त्यागनी पड़े, सारा संग समागम भी छोड़ना पड़े, कितने ही तपश्चरण करने पड़े, वे सब न कुछ श्रम हैं। इन-इन फालतू भावों का जिस तत्त्व में प्रवेश नहीं है, वह मैं कारणसमयसार हूं। इसके अवलम्बन से, जन्म–मरण से मुक्ति नहीं होती है।

स्वाभिमुखता से समृद्धिविस्तार- यह कारणपरमात्मतत्त्वमानो सदा इस प्रतीक्षा में रहता है कि यह जीव जरा तो उपयोग मेरी ओर करे, फिर मैं इसका भला ही भला कर दूँगा। जीव जरा भी उपयोग इस कारणसमयसार निज प्रभु की ओर नहीं देता तो यह तिरोहित रहता है और विवश रहता है। एक बार सर्वविकल्प छोड़कर किसी भी प्रकार निर्विकल्प समाधि भाव द्वारा अपने इस अन्त:स्वरूप के दर्शन तो कर लें, फिर तो यह कारणपरमात्मा वेग से प्रकट होकर कार्यपरमात्मा का रूप रख लेगा; तब सारे काल के लिए सारे झंझट छूट जायेंगे।

परसमागम की असारता- भैया ! घर बसाया, चीजें जोड़ी, धन जोड़ा, ये सब क्या काम आयेंगे इन जीवों के? कुछ तो ध्यान में लायें। अरे, इसका तो काम था एक धर्म करने का, आत्मस्वरूप को निहारकर इस ही आत्मस्वरूप में सदा तृप्त रहने का। इसी के लिए मनुष्य जीवन पाया है। समस्त वैभवों को तृण के समान असार जान लेना है। जब तक इन पौद्गलिक ढेरों की कीमत मानते रहेंगे, जब तक इस जीव को वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा। ये समस्त लौकिक सुख, ठाठबाट अत्यन्त हेय हैं। इनकी ओर कुछ भी उपयोग नहीं फँसाना चाहिए। किसी परिस्थितिवश उनमें लगना पड़ता है तो लगते हुए खेद तो मानते रहो। मौज तो न मानो। जैसे कोई जितना ऊपर से गिरे, उसको उतनी ही चोट लगती। ऐसे ही इन बाह्यपदार्थों में जो जितनी मौज माने, वह उतनी ही विकट दुर्गति प्राप्त करता है।

स्वरूपदर्शन का अनुरोध- भैया ! रंच तो निहारो इस कारणपरमात्मतत्त्व की ओर, फिर तो यह बड़े वेगपूर्वक अपना विकास करेगा, फिर सदा के लिए संसार के समस्त संकटों से मुक्त हो जाएगा। ऐसे ही सहजमुक्ति की ओर तत्पर रहने वाले इस कारणपरमात्मतत्त्व को जो अन्तर ज्ञानी सहज परमबोध के द्वारा जानता है और ऐसे ही सहज अवलोकन से देखता है, वह ही यह मैं कारणसमयसार हूं- ऐसी भावना करता है। इस निज शुद्ध सहजस्वरूप की भावना में सर्वसमृद्धि भरी हुई है। कहीं बाहर दृष्टि फँसाई तो आकुलता ही है। अत: इस प्रकार के कारणसमयसार की ज्ञानी पुरुष को सदा भावना करनी चाहिए।

योगियों का ध्येय परमार्थ तत्त्व- योगियों का ध्येयभूत यह आत्मा सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशीलस्वरूप हैं। इसमें यह बताना असम्भव है कि आत्मा तो यह है और उसमें ये-ये धर्म रहा करते हैं। वह तो धर्म-धर्मी के आधार-आधेय के

विकल्प से रहित है। ज्ञानादि गुणों को छोड़कर अन्य कुछ आत्मा नहीं है। जो कुछ चैतन्य चमत्कार है, तन्मात्र यह आत्मा है, इसी कारण इसे चैतन्य चमत्कार मात्र कहा जाता है। यह अनादि हैं, अनन्त है, अचल हैं, जिस स्वरूप को लिए हुए है, उस स्वरूप से त्रिकाल भी चलित नहीं होता है। यह चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा स्वयं ही बड़ी श्रेष्ठता से चकचकायमान् होता है, प्रकाशमय रहता है। इस आत्मतत्त्व में आधार-आधेय का विकल्प नहीं है। जो भी महापुरुष हुए हैं, योगिपूजित हुए हैं, वे सब इस चैतन्य चमत्कार मात्र के उपासक ही तो हैं। वहां भी उपासक-उपासना और चैतन्य चमत्कार में कुछ भिन्न नहीं हैं, किन्तु जो बर्त रहा है, उसको बताने का एक तरीका है।

निर्दोषता का उपाय- अमिततेजोमय चैतन्यचमत्कारमात्र कारणपरमात्मतत्त्व को जो अभेदरूप होकर प्रतिभासता रहता है, वह करणसमयसार मैं हूं- ऐसी निरन्तर भावना करनी चाहिए। इस ही भावना के प्रसाद से भव-भव के बद्ध कर्म क्षणमात्र में खिर जाते हैं। ये कर्म अन्य किसी अन्य प्रकार से नहीं खिरते हैं, किन्तु रागद्वेष भावों की गिलाई के कारण ये कर्म आये और बंधे हैं। सो राग-द्वेष-मोह की गिलाईपन मिट जाए तो ये कर्म अपने आप झड़ जायेंगे। जैसे कि गीली धोती नीचे गिर जाए और उसमें धूल, मिट्टी चिपक जाए तो उस धोती को झाड़ने-फटकारने से वह धूल न निकलेगी, किन्तु उसको ऐसे ही सूखने डाल दिया जाए। उस धूल को चिपकाने वाली तो गिलाई थी, वह गीलापन सूख जाएगा तो बहुत थोड़े झिटके से वह धूल खिर जाएगी। ऐसे ही कर्मजाल राग-द्वेष-मोह भाव के कारण लगा हुआ है। यह राग-द्वेष-मोह भाव सूख जाए तो कर्म वहां टिक नहीं सकते हैं। राग-द्वेष-मोह के सूखने का उपाय निर्दोष निरावरण निरंजन सहज ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व की भावना ही है।

कारणसमयसार की इन्द्रियगोचरता- यह मैं कारणसमयसार किसी भी इन्द्रिय के उपाय से नहीं जाना जा सकता। इन कानों को बहुत ही सावधानी से लगा दें इस आत्मा की बात सुनने के लिए तो कहीं आत्मा का ज्ञान न हो जाएगा, न यहां आत्मा की बात सुनने को मिलेगी। भले ही सुनने से आत्मा की कुछ बाहरी चर्चा सुन ली जाएगी, किन्तु आत्मा कैसा है, इसका साक्षात् मिलन तो इन कानों के द्वारा नहीं किया जा सकता। ये नेत्र तो कान की अपेक्षा भी अधिक बहिर्मुख बनाने वाले हैं। आंखों को फाड़कर भी इसआत्मा को निरखा जाए तो मात्र यह ऊपर का चाम ही तो दृष्ट हो सकता है। इन नेत्रों से तो चाम के भीतर का भी मल दृष्ट नहीं हो सकता है, फिर तो अन्त: बसा हुआ यह अमूर्त भावात्मक आत्मतत्त्व नेत्रों से चिरकाल भी ज्ञात हो ही नहीं सकता है। घ्राण से क्या यह आत्मा जान लिया जा सकता है? आत्मा गंधरहित है। नाक का उसके जानने में क्या काम है? रसना से क्या आत्मा का स्वाद लिया जा सकता है? आत्मा रसरहित परमज्ञानानन्दस्वरूप है। स्पर्श से भी यह आत्मा नहीं जाना जा सकता है।

अन्तस्तत्त्व की मन से अगम्यता- भैया ! इन्द्रिय की तो कहानी ही छोड़ो। इस मन के द्वारा भी आत्मतत्त्व से भेंट नहीं हो सकती है। यह मन आत्मा के दरबार में बाह्य सभा तक तो ले जा सकता है, आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में भावात्मक भेदरूप से जो कुछ वर्णन है, उस वर्णन तक तो मन की गति हो सकती है; किन्तु जो भाव आत्मस्वरूप है,

सहज परमपारिणामिक चैतन्यचमत्कारमात्र है, उसका ज्ञान केवल आत्मउपयोग के द्वारा ही होता है। वहां मन रूद्ध हो जाता हैं।

आत्मनिर्णय- यहमैं आत्मतत्त्व वह हूं, जो अपने द्वारा अपने में अपने लिए अपनेसे जाना जाता है, जो किसी भी ग्रहण में न आने योग्य को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किए हुए को कभी छोड़ता नहीं, केवल सर्वप्रकार सबको जानता भर रहता है, वह स्वसम्वेद्य मैं आत्मा हूं। इस आत्मतत्त्व में जो गृहीत धर्म है, स्वरूपरूप शाश्वत चैतन्यस्वरूप है, उसको यह कभी छोड़ नहीं सकता है, वह तो इसका स्वरूप ही है। जो चीज अग्राह्य है, उसे आत्मा अपने स्वभावरूप में स्वीकार नहीं करता हैं, ऐसे सर्वपरभावों का यह कभी ग्रहण नहीं कर सकता है। यह तो अपने आपमें अपने ही गुणों से समृद्ध एक स्वरूपमात्र आत्मतत्त्व को जानता है अथवा जैसे कोई प्रकाशमय तत्त्व प्रकाशित होता हैं, ऐसे ही यह ज्ञानमय तत्त्वमात्र अपने स्वरूप में प्रतिभात होता रहता है।

परमार्थ स्वभाव के अपरिचय में लोकविडम्बना- यह अपने आपमें बसा हुआ यह अपना प्रभु परमोत्कृष्ट तत्त्व है। इसको जाने बिना संसार की ऐसी घटनाएं चल रही हैं। कहां तो यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप सर्व विश्व का ज्ञाताद्रष्टा रहता और सदा निरन्तर आनन्दमय रहता और कहां आज की यह परिस्थिति कि नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव- इन गतियों में नाना प्रकार के शरीरों में फंसता है और नाना क्लेश भोगता है, बाह्यपदार्थों की ओर अपना कुछ निहार-निहार कर सुख की आशा किए भिखारी बनकर जीवन गँवाता है। कितनी विरूद्ध परिस्थिति है इस जीव की? यह सब अपने प्रभु की उपासना न करने का फल है। यह आत्मतत्त्व तो जीवत्वस्वरूप है। इसने अपने सहज चैतन्यस्वभाव को छोड़ा ही नहीं है और जो अन्य पौद्गालिक विकार है, इनको कभी ग्रहण किया ही नहीं है। यह तो शाश्वत निरावरण निरंजन है। इसे जाने बिना यह संसरण हो रहा है।

मोक्षमार्ग का प्रयोजक आत्मतत्त्व- यहां किस 'मैं' को देखा जा रहा है?जो 'मैं' इस रागद्वेषभाव को कभी ग्रहण नहीं कर सकता, उस "मैं" की बात चल रही है। यह 'मैं' इस वर्तमान पर्यायरूप में न मिलेगा, किन्तु पर्याय का स्रोत होकर भी पर्यायस्वरूप से विलक्षण शाश्वत ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में मिलेगा। क्या स्वभाव रागद्वेष को ग्रहण करता है? स्वभाव तो स्वभावरूप ही रहता है। शुद्ध भावात्मकरूप से देखने की कला पर इस 'मैं' का ज्ञान निर्भर है। आत्महित के प्रयोजन में इस पद्धति से ही उस 'मैं' को ग्रहण करना चाहिए। जैसे यह एक चौकी है। इस चौकी का स्वरूप आप कितने ही स्वरूपों में बता सकते हैं- यह गोल है, लम्बी है, चौडी है, पुरानी है, ऐसे रूप की है, यह ठोस मजबूत है। चौकी पर बैठने का प्रयोजन हो तो यह प्रयोजक पुरुष उसकी मजबूती पर दृष्टि देता है, रंग पर नहीं; क्योंकि रंग उसके बोझ को न संभाल सकेगा। उसका आकार, प्रकार, रूप उसे न संभाल सकेगा। प्रयोजक पुरुष पदार्थ को अपने प्रयोजन के माफिक निरखा करता है। यहां मोक्षमार्ग का प्रयोजक ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्व को आत्महित के प्रयोजन से निरख रहा है। यद्यपि यह आत्मा वर्तमान में मनुष्यपर्यायरूप हो रहा है, इसमें रागद्वेष चल रहे हैं, विचार उठ रहे हैं; लेकिन इसके निरखने से मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता है। यह सब अभी है, पर साथ ही यह भी तो बतावो कि इन सब

परिणमनों का स्रोतस्वरूप कोई एक स्वभाव भी इसमें है या नहीं? उस स्वभाव का दर्शन मोक्षमार्ग का प्रयोजक है। उस ही स्वभावरूप आत्मतत्त्व की यहां बात कही जा रही है।

ज्ञानी की लगन- यह आत्मतत्त्व समस्त परपदार्थों से और रागादिक समस्त विकार भावों से पृथक् है और पृथक् ही क्या, वरन् यह मैं आत्मा रागादिक भावों को त्रिकाल भी ग्रहण नहीं करता हूं। जो मुझमें ग्रहण किए हुए है, उसकी बात नहीं कही जा रही है; किन्तु जो इसका शाश्वत चैतन्यस्वभाव है, वह कभी विकारों को ग्रहण करता ही नहीं है अर्थात् कभी यह आत्मा विकारस्वभावी नहीं होता है। उस अविकारस्वभावी आत्मा की कथनी की जा रही है। यह किसी भी परभाव का ग्रहण भी नहीं करता है। ओह, इस ज्ञानी को यह बात ऐसी तेज लग बैठी कि यह निरन्तर देखा करता है कि इस चिन्मात्र आत्मतत्त्व में कोई ग्रह-विग्रह है ही नहीं। ये ग्रहविग्रह विसम्वाद जब अन्य पदार्थों में कुछ आग्रह करे, तब ही उत्पन्न होते हैं। इन सभी परभावों को छोड़कर एक इस निज चैतन्यस्वभाव में ही लगूँ- ऐसी उसकी भावना रहती है। ज्ञानी को अन्यत्र कहीं रुचि हीनहीं हैं।

परम आनन्द के अनुभवी के हेयसुख में अवांछा- जिस भव्य पुरुष ने विशुद्ध परिपूर्ण सहज ज्ञानात्मक परिणति का अनुभव किया है, वह परतत्त्वों में लगेगा ही क्यों? जैसे कि देवगति के जीवों के उनके कण्ठ से ही अमृत झर जाता है और वे उससे ही तृप्त हो जाते हैं तो उन्हें दालभात आदि आहारों के ग्रहण करने की जरूरत ही क्या है? जैसे देवों को बाहरी भोजन करने की चाह नहीं उत्पन्न होती है, वे अपने कण्ठ से झरे हुए अमृत का ही पान करके तृप्त रहते हैं- ऐसे ही यह अंतर्यामी ज्ञानी पुरुष अपने आपके अन्तस्तत्त्व में आत्मा के उपयोग द्वारा निरन्तर शुद्ध आनन्द का अनुभव कर रहा है, उसी से तृप्त रहता है। उसे किसी भी बाह्यतत्त्व में उपयोग देने की क्या जरूरत है?

आत्मतत्त्व में दन्दफन्द का अभाव- यह आत्मतत्त्व निर्द्वन्द्व है। लोग दंदफंद से बहुत घबड़ाते है। दंदफंद मायने क्या हैं? दंद किसे कहते हैं और फंद किसे कहते हैं? अलग-अलग कुछ बतावो तो। अरे दंदफंद का अर्थ है दन्द का सन्द। फन्द मायने है बन्धन, विपत्ति, विडम्बना और दन्द मायने है दो चीजें। द्वन्द्व का अपभ्रंश दन्द है। हम दो के फन्द में पड़ गये हैं। हम अकेले होते तो कोई फन्द न था, पर दुसरी चीज में उपयोग दिया, स्नेह किया, उसे अपनाया- यही है दन्द का फन्द। यह आत्मा दन्दरहित, निर्द्वन्द्व है, इसी कारण निरुपद्रव है। उपद्रव का नाम ही फन्द है। निर्द्वन्द्व होने के कारण ही उपद्रवरहित है ऐसा ही यह आत्मतत्त्व है।

निरुपम शुद्ध आनन्द- निर्द्वन्द्व, निरुपद्रव ही यह आत्मीय आनन्द है। आनन्द और आत्मा कोई जुदे-जुदे तत्त्व नहीं हैं। यह आनन्द निरुपम है, नित्य है, स्थायी है, अपने आपके आत्मा से ही प्रकट होता है। यह अन्य द्रव्यों के विकल्पों से उत्पन्न नहीं होता है।ऐसा यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभवरूप आनन्द है। इस आनन्द को पाकर इस जीव को पुण्योदय से प्राप्त हुए ये धन, सम्पदा, इज्जत, मान्यता, विषयों के सुख- ये सबके सब उसे उपद्रव लग रहे हैं। इस कारण यह शुद्ध ज्ञानानन्दामृत से तृप्त हुआ यह भव्य पुरुष इन विषय-सुखों की ओर दृष्टि भी नहीं करता है। यह खाता हुआ भी

नहीं खाता है, क्योंकि दृष्टि तो आत्मीय स्वरूप में लगी हुई है। जैसे जिसको किसी बड़ी सम्पदा के प्राप्त होने से अत्यन्त अधिक खुशी होती है। उसकी दृष्टि उस सम्पदा की ओर लगी रहने से उसे खाने का भी कुछ ख्याल नहीं रहता। खाता हुआ भी वह नहीं खाता है अथवा जिसको इष्ट पुरुष का वियोग हो गया है, उसका तीव्र दु:ख है, ऐसा दु:खी पुरुष खाता तो है, पर वह खाता हुआ भी नहीं खाता है। ऐसे आत्मीय आनन्द का अनुभव करने वाला पुरुष इस पुण्य के ठाठ को भी छोड़ देता है और अद्वैत तुलनारहित चैतन्यमात्र इस चिन्तामणि तत्त्वरत्न को उपयोग द्वारा प्राप्त किए रहता है।

परमार्थ चिंतामणि का परम प्रसाद- चिंतामणि इस जगत् में अन्यत्र कहीं नहीं हैं। लोग कहते हैं कि चिंतामणि वह रत्न है कि जिसके रहने पर जो विचारो, सो तुरन्त काम हो जाता है। वह चिंतामणिरत्न इस चैतन्यस्वरूप का अवलोकन है। जो चाहो, सो सब सिद्ध हो जाएगा। अच्छा, तब तो हम इस चैतन्य को जरूर जानकर रहेंगे। जान लो सब सिद्ध हो जायेगा। कैसे सिद्ध हो जायेगा कि चैतन्यस्वरूप को जानकर कुछ चाह ही नहीं रहेगी। चाही हुई चीज की सिद्धि चाह न करने से हुआ करती है। इस प्रकार के इस चैतन्यमात्र तत्त्व को जान करके फिर कौनसा विवेकी यह कहेगा कि कोई परद्रव्य मेरा है? देखो इस अन्तरंग में- कैसा प्रकाशमय तत्त्व दिख रहा है इस ज्ञानी को यह सब ज्ञानी गुरूवों के चरणों का प्रसाद है। ऐसा यह जीव गुरु-चरणों का प्रसाद पाकर अपने स्वरूप की भावना भाकर निश्चयप्रत्याख्यान कर रहा है।

गाथा 98

पर्याऽट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहि बज्जिदो अप्पा।

सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं।।98।।

बन्धनिर्मुक्त आत्मतत्त्व का चिंतन- जो प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध से रहित है, वह मैं हूं, ऐसा चिंतन करता हुआ यह ज्ञानी पुरुष इस आत्मतत्त्व में ही स्थिरभाव को करता है। इस गाथा में सर्व प्रकार के बन्धनों से निर्मुक्त आत्मतत्त्व की भावना का अनुरोध किया गया है साधुजनों की प्रत्याख्यानमयी स्थिति बताकर।

प्रदेशबन्ध– कर्म कामार्णवर्गणा जाति के सूक्ष्म पौद्गलिक स्कन्ध हैं। इस संसारी जीव के साथ अनन्तानन्त कार्माणवर्गणाएँ तो कर्मरूप बंधी हुई हैं और अनन्त कार्माणवर्गणाएँ ऐसी भी जीव के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप विराजी हुई हैं, जो कर्मबन्धन के उम्मीदवार हैं। साथ ही अनन्त कार्माणवर्गणाएँ इस लोक में ऐसी भी भरी पड़ी हैं, जो अभी

तक किसी जीव के साथ विश्रसोपचयरूप भी नहीं हैं; किंतु जीव प्रदेश में आकर कर्मरूप होने की सामर्थ्य रखती हैं। इस प्रकार इस जगत् में जीवों से अनन्तानन्तगुणी कार्माणवर्गणाएँ भरी पड़ी हुई हैं। यह जीव जब राग-द्वेष-मोह का परिणाम करता है तो ये कार्माणवर्गणाएँ इस आत्मा के साथ निमित्तनैमित्तिक भाव की पद्धति से बन्धन को प्राप्त हो जाती हैं। यह है प्रदेशबन्ध।

प्रकृतिबन्ध- प्रदेशबन्ध होने के समय उन समस्त कामार्णवर्गणावों में जो उस समय बन्धी हुई हैं, उनमें तुरन्त बंटवारा हो जाता है कि इतनी कार्माणवर्गणाएँ ज्ञान ढाकने का काम करेंगी, इतनी दर्शन को प्रकट न होने देने में निमित्त बनेंगी, इतनी सुख-दु:ख वेदन कराने में निमित्त बनेंगी। इतनी श्रद्धा और चारित्र को बिगाड़ने के लिए निमित्त होंगी। इतनी कार्माणवर्गणाएँ अगले भव में जीव को शरीर में रोके रहने के लिए कारण बनेंगी।, इतनी कार्माणवर्गणाएँ इस जीव को नया शरीर प्राप्त कराने के और निर्माण का कारण बनेंगी ये कार्माणवर्गणाएँ इस जीव के ऊँच और नीच कुल के व्यवहार कराने का निमित्त होंगी और ये इस जीव की अभीष्ट बात में बाधा डालने में निमित्त होंगी। ऐसा विभाजन तुरन्त अपने आप हो जाता है। इस प्रकृति के बंटवारे का नाम, उन कार्माणवर्गणावों में ऐसी प्रकृति पड़ जाने का नाम प्रकृतिबन्ध है। ये दोनों प्रकार के बन्ध इस जीव के योग का निमित्त पाकर होते हैं।

स्थितिबन्ध- बन्धन के समय ही इन कार्माणवर्गणावों की स्थिति भी निश्चित हो जाती हैं कि ये बंधे हुए कर्म इस जीव के साथ इतने वर्षों, सागरों पर्यंत रहेंगे, ये आबाधाकाल के बाद प्रतिसमय के निषेकों में विभक्त होकर रहेंगे। उनमें ऐसा प्रवर्तन चलता है, मोटेरूप में समझ लो। जैसे मान लो कि इस समय 10 करोड़ परमाणु बंधे हैं किसी एक प्रकृति के, तब उन 10 करोड़ परमाणुवों का यदि मान लो कि 1 लाख वर्ष तक के लिए बंधे हैं तो उन 10 करोड परमाणुवों में ऐसी स्थिति का विभाजन हो जाएगा कि इतने परमाणु 5 दिन बाद खिर जायेंगे, इतने 6 दिन बाद , इतने 7 दिन बाद। ऐसा मान लो कि एक एक दिन बढ़ाकर 10 लाख वर्ष तक वे परमाणु खिर जायेंगे, इसके व्यवहार में 1 लाख वर्ष की स्थिति हुई है। स्थिति में ऐसा नहीं है कि मान लो 1 लाख वर्ष की स्थिति पड़ी है तो उससे पहिले उनमें से कोई कर्म उदय में न आयें और एकदम 1 लाख वर्ष पूरे होने के टाइम में सारे उदय में आयें, ऐसा नहीं होता; किन्तु कुछ ही समय के बाद अथवा आबाधाकाल के बाद निरंतर प्रतिक्षण उनमें से उदय चलता रहता है और यह उदय कब तक चलेगा? जब तक चलेगा, उतनी स्थिति कहलाती हैं।

अनुभागबन्ध- इसमें यह भी जान जाइए कि किन किन समयों के बांधे हुए कर्म उदय में आ रहे हैं। करोड़ो वर्ष पहिले के बांधे हुए कर्म भी आज उदय में आ रहे हैं और इसी भव के बांधे हुए कर्म भी उदय में आ रहे हैं। अत: वर्तमान में एक समय में उदय की जो परिस्थिति बनती है, वह एक समिश्रणरूप बनती है। इस ही समय करोड़ों वर्ष पहिले के बांधे कर्म भी उदय में हैं और कुछ दिन पहिले के बांधे हुए कर्म भी उदय में हैं तो उन सबमें फल देने की जो शक्ति है, उन शक्तियों का जो अनुपात में मेल बैठता है, उसके अनुसार फल मिलता है। इन प्रकृतियों में उस ही समय अनुभाग बंध पड़ जाता है। जो कर्म बंधे, उन कर्मप्रकृतियों में ये वर्गणाएँ इतने दर्जे का फल देने में निमित्त होंगी, ये इतने दर्जे का फल देने में कारण होंगी, ऐसा उनमें फलदानशक्ति का भी बंधन हो जाता है, इसे कहते हैं अनुभागबंध।

कर्मबन्धन में चतुष्टयात्मकता- विपाकानुभव का कारण, विपदा का कारण, विडम्बना का कारण यह है अनुभाग। एक कल्पना करो कि अनुभाग कर्म में न हों, वे बंधे रहे, उनमें प्रकृति पड़ी रहे, उनमें स्थिति बनी रहे और जो कर्म आज बंधे हैं उनमें भी अनन्तगुणे उसके ऊपर चढ़ते रहें; लेकिन उनमें अनुभाग न हो, फलदान शक्ति न हो तो उनका क्या डर है? लेकिन ऐसा नहीं होता है। अनुभाग भी पड़ा हुआ है और अनुभाग प्रकृतिप्रदेश की स्थिति बिना आ नहीं सकती हैं, अत: वे तीन भी बन्धे हुए हैं। अनुभाग किनमें पड़ा है? जिनमें पड़ा है, उसका नाम है प्रदेशबन्ध। यह अनुभाग वाला प्रदेश कितने समय तक रहेगा? ऐसी बात न हो, कुछ ठहरे ही नहीं आत्मा में, तब अनुभाग कहां विराजेगा? यह अनुभाग किस प्रकार के फल को देने में कारण है? ऐसा कोई प्रकार न हो, प्रकृति न हो तो वह अनुभाग किसका है? यों कर्मबंधन में प्रकृति प्रदेश स्थिति और अनुभाग चार बंधन आ सकते हैं।

बन्धनचतुष्टयात्मकता पर भोजन का दृष्टान्त- जैसे मनुष्य ने भोजन किया तोभोजन का जो स्कन्ध है, उसका पेट में बन्धन हुआ। यह तो समझ लीजिए। प्रदेशबन्धन और उस भोजन में यह बंटवारा हो जाना कि यह भोजन इतने अंग में तो खूनरूप बनेगा, इतने में मलरूप, इतने में मूत्ररूप, इतने में पसीनारूप, इतने में हड्डीरूप और इतने में वीर्यरूप बनेगा, इस प्रकार का बंटवारा हो जाता है। तभी तो वैद्य कहते हैं कि इसको खावों तो मल अधिक बनता है, इसको खावो तो खून कम बनता है, इसको खावो तो वीर्य अधिक बनता है, इसे खावो तो रूधिर अधिक बनता है, इसे खावो तो हड्डीरूप बनता है, इसे खावो तो मांस-मज्जा बढ़ता है- जैसे भोजन में बंटवारा हो जाना, प्रकृति पड़ जाना, इसको कह लीजिए प्रकृतिबंधन। साथ ही उस खाये हुए भोजन में जो ऐसी स्थिति पड़ जाती है कि जो मलरूप बन गया है अंश, वह तो 10 घण्टेभर रहेगा; जो पसीनारूप बन गया है, वह घण्टेभर रहेगा; जो खूनरूप बन गया है, वह कुछ वर्ष रहेगा; जो हड्डीरूप बन गया है, वह 50 वर्ष रहेगा; जो वीर्यरूप बन गया है, वह इतने वर्ष रहेगा। ऐसी उसमें रहने की म्याद भी पड़ जाती है ना? समझ लीजिए इसका नाम है स्थितिबंधन। साथ ही उस भोजन में शक्ति भी पड़ जाती है। पसीने में शक्ति का अंश बहुत कम है, मूत्र में शक्ति उससे अधिक है, मल में शक्ति उससे अधिक है, खून में उससे अधिक है, मांस-मज्जा मेंउससे अधिक है, हड्डी में उससे अधिक है और वीर्य में सर्वाधिक शक्ति दिखाई देती है। इस प्रकार से उस भोजन में शक्ति के पड़ जाने पर यह मान लीजिए कि यह अनुभागबंधन है। जहां ये चार प्रकार के बंध होते है, उसे कहते हैं बंधन।

लोकबन्धन का एक दृष्टान्त– किसी मनुष्य को रस्सी से बाँध लो- नारियल की रस्सी से बाँध लो, रेशम की रस्सी से बाँध लो, सूत की रस्सी से बाँध लो। जहां किसी परपदार्थ का इस भांति से सम्पर्क होता है तो वह प्रदेशबंधन है। उसमें जो प्रकृति पड़ी हुई है, उसका बंधन इस प्रकृति का है। रेशम की भांति और नारियल की भांति का बंधन कुछ प्रकृति में अन्तर रखता है ना? वह प्रकृतिबंधन है। कब तक प्रकृतिबंध रहेगा? ऐसा उसमें प्रमाण रहना, सो स्थितिबंधन है। कितना तगड़ा, कितना कठोर, कितना क्लेशकारी इसका बंधन है? यह बात भी तो पड़ जाती है, यह समझ लो अनुभागबंधन। ये चार प्रकार के बंधन बंध में हुआ करते हैं।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण योग- इन चार बन्धनों में से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तो शुभ अशुभ, मन, वचन, काय की क्रियावों से होता है। जो लोग दूसरों के लंगड़ेपन को, रोग को देखकर किसी प्रकार की नकल करता है, मजाक करता है अथवा उसे चिढ़ाता है, जैसे हाथ-पैर कुछ टूटे से चलते हैं तो उस तरह से चलाए, उसकी नकल करे- ऐसी अशुभ क्रियाएँ की जाती हैं तो वैसा ही अशुभ कर्म बंधता है, उसे भी थोड़ा बहुत वैसा ही होना पड़ेगा। जैसे शुभ क्रियाएँ मन की करें, वचन की करें और शरीर की करें, कर्म में उस प्रकार की शुभ प्रकृति पड जाती है और भविष्य में प्राय: वैसी ही मन, वचन, काय की क्रियाएँ होंगी। मन, वचन, काय की नवीन कर्म परमाणुवों का आकर्षण करने में कारण होती हैं। इसी प्रकार मन, वचन, काय के कार्यों से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है।

स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध का कारण कषाय- उस बद्धकर्म में जो स्थिति पड़ती है कि यह प्रकृति इतने दिनों तक रहेगी या उनको जो फलदानशक्ति पड़ती है कि यह कर्म इतनी डिग्री का फल देने का कारण होगा। यह दोनों प्रकार का बन्ध कषायों द्वारा होता है। तिर्यंच, मनुष्य और देव आयु अधिक से अधिक बंधे, इसका कारण है मन्दकषाय। मन्दकषाय ही तो इन तीनों आयुवों की स्थिति ज्यादा बंधती है। इसके अतिरिक्त जितने भी कर्म हैं, उन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बंधे तो उसका कारण है तीव्रकषाय। ये तीनआयु पुण्य-प्रकृति हैं-मनुष्य, तिर्यंच और देव। क्योंकि इनको अपनी आयु प्यारी है, ये कभी मरना नहीं चाहते। नरक आयु पापायु है। ये नारकी प्रार्थना करते रहते हैं कि मैं झट मर जाऊँ। कितने समय तक यहाँ रहना पड़ेगा। यह नरकायु भी पापायु है। यदि ये तीन आयु शुभ आयु हैं तो इनकी स्थिति ज्यादा बंधेंगी अर्थात् ज्यादा दिन तक उस भव में यह रह सके- ऐसी उत्कृष्ट स्थिति का बन्धना मन्दकषाय से होगा। यदि तीव्रकषाय है- क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रचुरता है तो ये तीन आयु उत्कृष्ट स्थिति में न आ सकेंगी। इनकी अल्प स्थिति रह जाएगी। इन तीन पुण्य आयु के अतिरिक्त बाकी पुण्य-प्रकृतियां भी बहुत हैं। शुभ, सुभग, यश:कीर्ति, तीर्थंकर आदि अनेक पुण्य-प्रकृतियां हैं। इन आयुवों से भी अच्छी समझ में आने वाले शुभ प्रकृतियां हैं। उनकी ज्यादा स्थिति बन्धेगी तो तीव्रकषायों में बंधेगी।

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का कारण- संक्लेश परिणाम से तीर्थंकर जैसी उत्कृष्ट प्रकृति का बन्ध है। सम्यग्दृष्टियों में जितना संक्लेश सम्भव है, उसमें उत्कृष्ट स्थिति बन्धती है। प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तो तीव्रकषायों में बन्धती ही है, इसमें तो संदेह ही नहीं है। स्थिति के बन्धन की निर्भरता कषाय पर है। जैसी तीव्रकषाय होगी, उसी प्रकार की स्थितियां बन्धेंगी। इस प्रसंग में थोड़ा यह संदेह किसी को हो रहा होगा कि ये पुण्यप्रकृतियां शुभ, शुभग, यश:कीर्ति, तीर्थंकर और अनेक उत्कृष्ट स्थितियां तीव्रकषायवश हुआ करती है। इसका क्या कारण है? इसका कारण स्पष्ट है। कर्ममात्र भी का बन्धन इस जीव की अपवित्रता का कारण है। ये संसार में रोके रहेंगी। ये कर्म जब तक जीव के साथ हैं, तब तक ये रोके रहेंगी।

स्थितिबन्ध का उपसंहार- इन कर्मों के द्वारा संसार में रुके रहने का काम उसके बड़ा होगा, जिसके तीव्रकषाय होगी। संक्लेश परिणाम के ही कारण यह जीव संसार में अधिक दिनों तक टिक सकेगा, इस कारण शुभ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति संक्लेश परिणाम से होती है; किन्तु तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध तीव्रकषाय से

नहीं हो सकता। यह बात भी स्पष्ट समझ में आ जाती है। कहीं तेज क्रोध करने से बहुत दिनों तक देव रह सकेंगे क्या? कहीं तीव्रक्रोध करने से बहुत दिनों तक मनुष्य रह सकें, ऐसी स्थिति पायी जा सकती है क्या? यहां शायद आप यह कहेंगे कि यदि ये कर्म तीन शुभ आयु के बहुत दिन तक न रह सकें तो इसमें तो यह नुकसान है कि संसार ज्यादा दिनों तक न रहेगा। भैया ! उसकी क्या चिंता है? ज्यादा दिनों तक एक गति में रहकर संसार वृद्धकों में मुख्यरूप से रहना है तो नरक आयु का तो दरवाजा खुला है। खूब क्रोध करें, खूब मान, माया, लोभ करें तो नरकगति उनके लिए हाजिर है। तीव्रसंक्लेश में, तीव्रकषाय में, तीव्रतृष्णा में नरक आयु का बन्ध उत्कृष्ट पड़ता हैं। यों स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध इस जीव के कषाय के अनुसार होता है।

सत् उपयोग- ये चार प्रकार के बन्धन इस जीव के साथ अनादिकाल से चले आ रहे हैं। इस जीव ने इस बन्धन के वश कैसी-कैसी दुर्गति पायी है, महाकष्ट भोगा है। उन सबके मुकाबले आज जो हम आपने स्थिति पायी है, वह एक बहुत उत्कृष्ट स्थिति है। इस मनुष्यभव में इतना उत्कृष्ट मन मिला है कि इसका उपयोग करें, इस मायामय जीव-लोक से अपना नाता रखने में बड़प्पन न समझें, अपने स्वरूप की ओर दृष्टि करें तो लोकबन्धन और संसार का संकट अवश्य समाप्त हो सकता है। इन चार बन्धनों से रहित जो आत्मतत्त्व है, वह मैं हूं। ऐसा ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है। यद्यपि ये चार प्रकार के बन्धन आत्मपदार्थ पर पड़े हुए हैं; पर इस आत्मपदार्थ में जो सहज सिद्ध आत्मतत्त्व है, वह आत्मतत्त्व इन चार प्रकार के बन्धनों से रहित है। यह आत्मतत्त्व त्रिकाल निरावरण निरंजन सदा शुद्ध सदामुक्त स्वरूपमात्र है। ऐसा यह निर्द्वंद्व आत्मतत्त्व जो सदा निरुपाधिस्वरूप है, वह मैं हूं। इस प्रकार की सम्यग्ज्ञानी पुरुष भावना किया करता है और इस भावना के प्रसाद से भविष्यत् सभी प्रकार के कर्मों का निरोध हो जाता है, त्याग हो जाता है।

कर्मनिर्मुक्त स्वत्व का चिंतन- यहां यह ज्ञानी पुरुष बन्धनिर्मुक्त आत्मतत्त्व का चिंतन कर रहा है। इस चिंतन में जो कर्मनिर्मुक्त अरहंत सिद्ध प्रभु का आत्मा है, वैसा ही मैं हूं- ऐसा चिंतन करना व्यवहारदृष्टि का चिंतन है और यह जीवतत्त्व चैतन्यस्वरूप अपने स्वरूप में अपने स्वभावरूप है। इसमें कर्म आदि किसी भी परद्रव्य का प्रवेश नहीं है, ऐसा चैतन्यमात्र मैं हूं। ऐसे चिंतन को निश्चयनय का चिंतन कहते हैं। निश्चयनय में जो निर्णय पड़ा हुआ है, वह जहां विशुद्ध व्यक्त हो जाता है, उसे कहते हैं शुद्ध निश्चयनय का व्यवहार।

मुक्ति के उपाय में प्रथमपुरुषार्थ- यह जीव कर्मों से कैसे मुक्त होता है? उसके उपाय में सर्वप्रथम यह मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानाभ्यास करता है, अपनी शक्ति के माफिक तत्त्वचिंतन करता है। इस चिंतना के प्रसाद से मोह मन्द होता है, वस्तुस्वरूप पर दृष्टि लगती है, तब इस अभ्यास के बल से इसके अध:करण, अपूर्णकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है। अध:करण परिणाम उसे कहते हैं, जिसके ऊपर के समय वाले साधक जैसा विशुद्ध परिणाम नीचे के समय वाले साधक में भी हो सके। ऐसी अनुकृष्टिरचनारूप जहां परिणामों की विशुद्धि चलती है, उसे अध:करण परिणाम कहते हैं। यह प्रयोगात्मक विशुद्धि का प्रथम कदम है। इस विशुद्धि के प्रयोग में फिर ऐसी योग्यता आ जाती है कि प्रति समय इसके अपूर्व-अपूर्व विशुद्ध परिणाम चलते रहते हैं। यह द्वितीय कदम है, जिसमें बहुत सी उत्कर्षता की

बातें होने लगती हैं। असंख्यातगुणी निर्जरा पहिले समय में हुई, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा अगले समय में होती है; किन्तु यह निर्जरा स्थिति और अनुभाग की निर्जरा है, प्रकृति की निर्जरा नहीं है।

सर्वप्रथम प्रकृतिनिर्जरण- प्रकृति की निर्जरा का अर्थ है कि वह प्रकृति ही न रहे और स्थिति अनुभाग की निर्जरा का अर्थ यह है कि उन परमाणुवों का स्थितिघात हो जाए और अनुभाग का फलदान शक्ति भी घात हो जाए। इस निर्जरा के फल में प्रकृतिनिर्जरा होगी। अनवृत्तिकरण परिणाम पाकर इसके प्रकृतिनिर्जरा हो जाती है। उस समय सम्यक्त्वघातक 7 प्रकृतियों की निर्जरा हो सकती है। सप्तप्रकृतियों की निर्जराक्षायिक सम्यक्त्व में ही हुआ करती है। उपशमसम्यक्त्व में प्रकृतिनिर्जरा नहीं है, वरन् विसंयोजन है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में भी प्रकृतिनिर्जरा नहीं है। प्रकृतिनिर्जरा में फिर वह प्रकृति ही नहीं रहती है। उपशमसम्यक्त्व में सम्यक्त्वघातक 7 प्रकृतियां उपशांत हैं, दबी हुई हैं, सत्ता से खत्म नहीं होती हैं। क्षायोपशमिकसम्यक्त्व में 6 प्रकृतियां दबी हैं और कुछ निष्फल होती हुई उदयावलि में आती रहती हैं तथा एक सम्यक्त्वप्रकृति का उदय भी रहता है; किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व तब ही सम्भव है, जब इन सातों प्रकृतियों की सत्ता ही मिट जाए। इन प्रकृतियों की जब निर्जरा होती है तो इन कर्मों में बहुत बड़ा प्रक्षोभ हो जाता है। कैसे प्रकृतियों के निषेक टूटते हैं, नीचे मिलाया जाता है, कैसे उनका अनुभागघात होता है। वह सब यों जान लीजिए कि अनादिकाल से प्रबलतापूर्वक चले आये हुए ये कर्म जब समूल नाश को प्राप्त होंगे तो कितना भड़भड़ इसमें हो सकता है और कैसी दुर्दशा में ये कर्म नष्ट हुआ करते हैं?

मोक्षमार्गी जीव के कुछ प्रकृतियों का जन्मत:ही असत्त्व- जो जीव उस ही भव से सर्वथा कर्मनिर्मुक्त होंगे, उस जीव के नरक आयु, तिर्यंच आयु और देव आयु की सत्ता ही नहीं रहती है। जिस पुरुष को मोक्ष जाना है, उस पुरुष के तो सिर्फ एक मनुष्य आयु है। अत: वह भी जो भोगी जा रही है, वह मनुष्य आयु है। अन्य मनुष्य आयु बंधी हुई नहीं है, जिससे अगले भव में भी मनुष्य हो। यह तो इस मनुष्यदेह को छोड़कर मुक्त होगा। उसके तीन आयु नहीं है। कोई मनुष्य ऐसा हो कि जो तीर्थंकर न होगा और मुक्त होगा, उसके तीर्थंकरप्रकृति की भी सत्ता न होगी और कोई पुरुष ऐसा हो कि जिसने आहारक शरीर का बंध न किया हो तो उसके आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग- ये दोनों प्रकृतियां भी नहीं रहती हैं।

असंख्यातगुणी निर्जरा का अवसर- अब यह जीव व्रतावस्था में बढ़ा, इसके अव्रत परिणाम के विकल्प छूटे। व्रत परिणाम में यह आया, अत: व्रत परिणाम में जब यह आता है तो इसके अध:करण और अपूर्वकरण- ये दो परिणाम होते हैं। जिस समय व्रतग्रहण होता है, ब्रह्म का भाव होता है, उस समय इसके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। व्रतग्रहण कर चुकने के बाद वर्षों तक यह व्रती रहेगा; किन्तु वर्षों तक असंख्यातगुणी निर्जरा नहीं होती, साधारणरूप से हुआ करती है। यह करणानुयोग का मर्म इस तथ्य को भी प्रकट करता है कि देखा होगा। कोई साधु बनता है, कोई प्रतिमा ग्रहण करता है तो प्रारम्भ में उसके कितनी बड़ी निर्मलता होती है? बड़ा उत्कृष्ट वैराग्य होता है। जब साधु हो रहा है तो वह न मां की सुने, न पिता की सुने, न मित्रों की सुने। उसके तो एक ही धुन है। लोग इस अचरज में हो जाते हैं कि क्या हो गया है इसके दिल में? अभी तक हम सबका बड़ा विश्वासपात्र था, जो हम कहते थे सो करता

था। अब इसके क्या धुन समा गई? इतनी उत्कृष्ट वैराग्य की अवस्था हो जाती है। उस समय विशेष निर्जरा चलती है। व्रतग्रहण कर चुकने के बाद वर्षों तक यह साधु रहेगा, पर प्राय: देखा होगा कि इतनी धुन, इतनी निर्मलता, इतना वैराग्य फिर नहीं रह पाता है। कोई-कोई तो अपनी ज्ञानभावना भी खो डालते हैं। यह केवल अज्ञानियों की बात है, पर ज्ञानी भी रहे तो भी इतनी प्रकर्ष निर्जरा असंख्यातगुणे रूप से नहीं चलती है।

सम्यग्दृष्टि, श्रावकव्रती और मुनिव्रती के असंख्यातगुणी निर्जरा- सूत्रजी में बताया है कि सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण परिणाम में जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यक्त्वग्रहण के समय होती है। सम्यग्दृष्टि कि जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा श्रावकव्रत ग्रहण करने वाले पुरुष के होती है। श्रावक के जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा महाव्रत धारण करने वाले के होती है। महाव्रत धारण करने वाले के जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले पुरुष के होती है।

अनन्तानुबन्धीविसंयोजक की विशुद्धि- अब यहां परिणामों की विचित्रता देखने का अवसर मिल रहा है। यह महाव्रती छठे गुणस्थान वाला है और कहो कि अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन कभी चतुर्थ गुणस्थान से भी पहिले कर रहा हो, सातिशय मिथ्यात्व में भी कर रहा हो अर्थात् सम्यक्त्व जिसके पैदा होने को है, उससे कुछ पूर्व की दशा हो, यहां उसकी महाव्रत के ग्रहण समय की निर्जरा से असंख्यातगुणी निर्जरा बतायी गई है। इस जीव की बहुत अधिक निर्जरा तो सम्यक्त्व होने से पहिले ही हो जाती है। इस जीव पर कर्मों का कितना कूड़ा-कचरा लगा है? जितना लगा है उसका बहुत कुछ भाग तो सम्यक्त्व होने के समय नष्ट होता है। बाद में इतना विकट भार नहीं रहता है। हजारों सागरों की कर्मनिर्जरा सातिशय मिथ्यात्व में हो जाती हैं। सम्यक्त्व होने के बाद फिर निर्जरा के लिए कर्म इतने विशाल, कठोर नहीं मिल पाते हैं, जितने की सत्यक्त्व होने से पहिले कर्मनिर्जरा के लिए कर्म होते हैं।

दर्शनमोहक्षपण की भूमिका- अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने में जितना कर्मनिर्जरण होता है, उससे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरण दर्शनमोहनीय का क्षय करने में होता है। जो जीव क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है, वह किस प्रकार करता है? इस विधि को सुनिये- क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव ही क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है, यह नियम है। मिथ्यात्व गुणस्थान के बाद एकदम क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता या उपशम सम्यक्त्व के बाद क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के बाद ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। उस क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के सातों प्रकृति की सत्ता बनी हुई है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति- ये सात प्रकृतियां सम्यक्त्व को उत्पन्न न होने देने में निमित्त हैं। इन 7 प्रकृतियों के नाश के प्रसंग में प्रथम अनन्तानुबन्धी का विनाश करने के लिए अध:करण, अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण परिणाम होता है। इस समय में अनन्तानुबन्धी की स्थिति और अनुभागनिर्जरा होती है, फिर तो कुछ थोड़ा बहुत अनुभागस्थिति का अनन्तानुबन्धी कर्म रह जाता है तो वह समूचा का समूचा एक साथ अप्रत्याख्यानावरणरूप हो जाता है। उसमें अनन्तानुबन्धीपना रंच भी

नहीं रहता, इसे कहते हैं अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन। बड़ा पुरुषार्थ है इस जीव का अनन्तानुबन्धी विसंयोजन में और इसी कारण फिर अन्तर्मुहूर्त वह विश्राम लेता है।

दर्शनमोहक्षपण में असंख्यातगुणी निर्जरा- अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन के बाद फिर अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणाम करता है। अबकी बार ये परिणाम दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों के क्षय को लिए हुए हैं, उनमें स्थितिनिर्जरण, अनुभागनिर्जरण ये सब चल रहे हैं। पश्चात् मिथ्यात्वप्रकृति रही सही एकदम सम्यक्मिथ्यात्वरूप हो जाती है, यों मिथ्यात्व का नाश हुआ और सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति रही सही सम्यक्प्रकृतिरूप हो जाती है, यों सम्यक्मिथ्यात्व का नाश हुआ। अन्त में यह सम्यक्प्रकृति क्षीण होती हुई गुणसंक्रमण और सर्वसंक्रमण होकर पूर्णतया नष्ट हो जाती है। क्षायिक सम्यक्त्व के समय दो काम हुए– अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन और दर्शनमोहनीय का क्षय। इसमें अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन में जितना कर्मनिर्जरण हुआ है, उससे असंख्यातगुणे कर्मनिर्जरण दर्शनमोहनीयक क्षय में हुआ है।

उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह व केवलिजिन के असंख्यातगुणी निर्जरा- दर्शनमोहक्षपक के क्षायिक सम्यक्त्व के उत्पन्न होते समय कर्मों की जितनी निर्जरा हुई, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा उपशम श्रेणी चढ़ने वाले जीवों के अपूर्वकरण, अनवृत्तिकरण नामक गुणस्थान में होती है। जितनी निर्जरा इस उपशम श्रेणी चढ़ने वाले के हुई, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा 11वें गुणस्थान में होती है। जितनी निर्जरा 11वें गुणस्थान में होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा क्षपकश्रेणी चढ़ने वाले साधुवों के 8वें, 9वें गुणस्थान में होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा 12वें गुणस्थान में और उससे असंख्यातगुणी निर्जरा केवलीभगवान के होती है और 14वें गुणस्थान में पूर्णतया कर्मों का विनाश हो जाता है, तब सिद्ध दशा प्रकट होती है। जैसे ये अरहंत, सिद्ध कर्मों से निर्मुक्त हैं, ऐसे ही मैं भी कर्मनिर्मुक्त हूं। यों प्रभु की पर्याय का चिंतन करके अपनी योग्यता का चिंतन करना और शुद्ध पर्याय वाले प्रभु के पर्याय की शुद्धता के दर्शन के माध्यम से स्वभाव की परख करके अपने स्वभाव की परख करना- ये सब एक भेदरूप उपाय हैं।

निश्चय से अन्तर्भावना- भैया ! निश्चय से तो अभेद उपाय से यह ज्ञानी पुरुष इसी समय अपने आपके अन्तर में सर्वपरविविक्त चैतन्यस्वभाव का चिंतन करके भावना कर रहा है कि जो प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध- इन चार बन्धनों से रहित आत्मतत्त्व है, वह मैं हूं- ऐसा चिंतन करके यह निकटभव्य स्थिरभाव को कर रहा है। जो पुरुष शाश्वतकल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि इस सहज परम आनन्दमय चैतन्यस्वभाव को जो कि निरुपम है और कर्मों का छुटकारा दिलाने वाला है, मुक्तिसाम्राज्य का मूल है- ऐसे चैतन्यस्वरूप को अभेदरूप से ग्रहण करें। सोहं-सोहं का ध्यान करते हुए सोहं के विषय का परिहार हो जाए और केवल अपने आपको अहंरूप अनुभव कर लें।

सहजानन्दानुभव के लिए एकमात्र कर्तव्य- शुद्ध सहजानन्दानुभव के लिए हे मुमुक्ष पुरुषों ! बहुत ही शीघ्र बड़ी प्रगति के साथ इस चैतन्यचमत्कारमात्र निजअन्तस्तत्त्व की ओर अपना उपयोग लगावो। इस जगत् में कोई भी अन्य पदार्थ हम आपके लिए शरण नहीं है। कैसे हो शरण? सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में परिणमते रहने का दृढ़, कठोर पूर्णव्रत

लिए हुए हैं। उनमें अन्य पदार्थ का दखल ही नहीं है। मैं ही अपने जैसे भावों को बनाता हूं, उसके अनुसार अपनी परिणति प्राप्त किया करता हूं। शुभ-अशुभ भावों के फल में यह संसार-परिणति लग रही थी। अब निरपेक्ष शुद्ध चैतन्यस्वभाव का उपयोग किया जाएगा तो अवश्य ही संसार-परिणति मिटेगी और मुक्तिसाम्राज्य मिलेगा। सर्वप्रकार से एक यह ही यत्न करने योग्य है कि हम अपने को मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप ही अनुभव किया करें।

गाथा 99

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।

आलंवणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे।।99।।

ममत्वपरिवर्जन और निर्ममत्वानुष्ठान- मैं ममत्व को छोड़ता हूं और निर्ममत्व को उपस्थित होता हूं अर्थात् मैं निर्ममत्वस्वभाव में ठहरता हूं। आत्मा ही मेरा आलम्बन है, अन्य समस्त पदार्थों को, परभावों को मैं छोड़ता हूं। ज्ञानी का ऐसा अन्त:संकल्प है। इस अनुभूति में अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावमात्र आत्मतत्त्व का शरण ग्रहण किया है और उस ध्रुवस्वभाव के अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, स्वभाव हैं, उन समस्त विभावों के परित्याग की विधि प्रकट हुई है। यह मैं आत्मा ज्ञानदर्शनमात्र हूं, अकेला हूं, विविक्त हूं, मोह-राग-द्वेष आदिक जो विभाव उत्पन्न होते हैं, उनसे भी मैं रहित हूं- ऐसे निर्ममत्व आत्मतत्त्व को प्राप्त होना ममता के परिहार की विधि है और ममता का परिहार होना आत्मतत्त्व के पाने की विधि है।

निर्दोषता और गुणसिद्धि का एकमात्र उपाय- भैया ! विधि निषेधरूप से कहा जाने वाला यह एक भाव है, फिर भी करने की चीज निषेधात्मक नहीं होती, बल्कि विध्यात्मक होती है। जैसे यहां दो कार्य हैं- ममता का परिहार और निर्ममत्व आत्मतत्त्व की प्राप्ति। इन दोनों में की जा सकने वाली विधिवत बात निर्ममत्व आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। जैसे कहा जाए कि क्रोध का परिहार करो और क्षमा को ग्रहण करो। क्षमा नाम है क्षोभरहित शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मविकासरूप परिणमना का, जिसमें दूसरों के विरुद्ध द्वेषभाव की कल्पना नहीं आती। इसमें क्रोध का त्याग और किस तरह होता होगा? क्रोध नाम का विभाव किस तरह फैंका जाता होगा? क्षमा नामक गुण आ जाएगा तो क्रोध का परिहार स्वयमेव हो जाता है। विध्यात्मक चीज तो आत्मविकास है, विभाव का परिहार करने का पुरुषार्थ तो स्वभाव का आलम्बन है। मेरा यह आत्मतत्त्व ऐसा समर्थ आलम्बन है कि जितने गुण चाहिए शुद्ध विकासरूप, वह सब इस आत्मावलम्बन के प्रसाद से सिद्ध होता है और समस्त अवगुणों का परिहार भी इस आत्मावलम्बन के प्रसाद से होता है। सो यह मैं एक आत्मतत्त्व को तो ग्रहण करता हूं और शेष समस्त विभावों का परित्याग करता हूं।

स्वरूपत: ममता का अवकाश- ममता नाम है ममकार का। कंचन कामिनी आदि परपदार्थों में अर्थात् परद्रव्यों की पर्याय में ममकार करने का नाम ममता है। यह मेरा है, इस प्रकार का संकल्प होना सो ममकार है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपना-अपना अस्तित्त्व रखता है। किसी भी द्रव्य में किसी अन्य द्रव्य का प्रवेश नहीं है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता अथवा भोक्ता नहीं होता है। इस मुझ आत्मतत्त्व में न किसी पर के साथ कर्तृत्व का सम्बन्ध है और न पर के भोक्तृत्व का सम्बन्ध है। न किसी पर को यह कराने वाला है और यहां तक भी अत्यन्ताभाव है कि यह पर का अनुमोदक भी नहीं हो सकता।

स्व का पर में अत्यन्ताभाव- यह मैं आत्मतत्त्व जो कुछ करता हूं, अपना परिणमन करता हूं और अपने ही द्वारा अपने आपको करता हूं। प्रेरणा देने वाला भी यह मैं हूं और करने वाला भी यह मैं हूं। कोई दूसरा पुरुष न मेरे परिणाम को करता है, न कोई मुझे प्रेरणा करा सकता है, खुद ही का विभाव खुद ही की गरज खुद को प्रेरणा दिया करती है। दूसरा पदार्थ मुझे किसी काम को करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता है। मैं भी किसी दूसरे जीव को किसी कार्य के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव अपने अपने भाव के अनुसार अपने में परिणमन किया करते हैं। इतना सो अत्यन्ताभाव है मेरा परपदार्थों में, फिर भी कुबुद्धिवश परपदार्थों में ममकार करता आया हूं, यह सब विभावपरिणति थी। अब मैं इस ममकार का परित्याग करता हूं, श्रद्धापूर्वक किसी भी अणुमात्र परपदार्थ में यह बुद्धि नहीं रखता हूं कि कोई भी परपदार्थ मेरे हैं, उनका मुझमें अत्यन्ताभाव है, वे अपने स्वरूप में हैं, मैं अपने स्वरूप में हूं।

गजब- भैया !यही तो एक विचित्र जगजाल है कि परपदार्थ से हम सब जीवों का रंचमात्र सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परपदार्थों के उपयोग का बोझ अपने ऊपर लादे हुए हैं। इस उपयोग को स्वतंत्र निर्द्वन्द्व, निरुपद्रव अपने आपके स्वरूप में आ सके, इस लायक नहीं रहने देता यह बोझ। परपदार्थ मुझे सता नहीं रहे हैं, किन्तु परपदार्थों के सम्बन्ध में जो विकल्प किए जाते हैं, वे विकल्प मुझे अहर्निश सताया करते हैं। उन विकल्पों को दु:खस्वरूप जान लेना, उन विकल्पों को हटाने का उत्साह जगाना तथा निर्विकल्प आत्मतत्त्व का आलम्बन लेना, सो ही सच्ची बुद्धिमानी है।

पर की ममत्व कि लिए अयोग्यता- प्रत्याख्यान के प्रसंग में यह ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि मेरा जब 'मैं' ही हूं तो मैं परपदार्थों में ममत्व क्यों करूँ? इस धोखेमयी संसार में मुझे किसी के प्रति कुछ न चाहिए। कोई मेरा क्या करेगा? किसकी मैं भीख माँगू? किस दूसरे में अच्छा कहलाने के लिए मैं आशा बनाऊँ? ये दृश्यमान चलते फिरते पूर्जे प्रत्येक असमानजातीय द्रव्यपर्यायें है। सभी अपनी विपदावों को सिर पर लादे हुए संसार में भटक रहे हैं। मैं यहां क्या शरण चाहूं? मेरा शरण तो मेरा आत्मतत्त्व ही है। जिस आत्मप्रभु के दर्शन बिना संसार में अब तक रुलता आया हूं, वह आत्मतत्त्व ही मेरा परमशरण है। कितनी सुविधा की बात है कि जो मेरा परमशरण है, सुख का हेतु है, वह मुझसे अलग नहीं है। यह स्वयं मैं ही तो हूं, पहिचान सकूँ तो पहिचान लूँ।

अन्तस्तत्त्व के परिचय के लिए दुग्धघृत का दृष्टान्त– भैया ! जैसे दूध में घी होता हैं, पर इन चमड़े की आंखों से दूध में घी नहीं दिख सकता है। सेरभर दूध रक्खा है तो किधर है घी? क्या कुछ पता पड़ता है? पर जो जानकार लोग हैं, वे जानते हैं और बता देते हैं कि इस सेरभर दूध में 1।। छटांक घी निकलेगा और किसी दूध को देखकर बताते हैं

कि इसमें छटांकभर घी मुश्किल से निकलेगा। ऐसा उन्हें जो घी दिख रहा है, वह ज्ञानबल से दिख रहा है। दूध में घी न हो तो कहां से घी निकले? कभी कोई पानी को देखकर नहीं कहता है कि इसमें छटांकभर घी निकलेगा। अत: इस विषय में कुछ ज्ञान तो है ही। उस दूध में अन्त:तिरोहित घी है ही। यह तिरोधान सूर्य के नीचे बादलों जैसा नहीं है अथवा किसी चीज पर कपड़ा पड़ा हो, इस तरह का नहीं है। उस दूध में घी बराबर बसा हो और ऊपर से कुछ ढका हो तो ऐसा नहीं उस दूध के अंग-अंग में घी बसा हुआ है। उस दूध को गर्म करने से, मलने से, यन्त्र से बिलाने से उस घी की व्यक्ति हो जाती है।

अन्तस्तत्त्व की उपलब्धि का उपाय- ऐसे ही हमारे आपके आत्मा में यह आत्मतत्त्व छिपा है। जो सारे संसार को जाने, देखे- ऐसा यह आत्मतत्त्व तिरोहित है। वह सूर्य पर बादल छायें, इस तरह तिरोहित नहीं है या किसी चीज पर कपड़ा पड़ा हो, इस तरह तिरोहित नहीं है, बल्कि दूध में घी की भांति तिरोहित है। इस तिरोहित आत्मतत्त्व का विकास परमार्थ तपश्चरण से हुआ करता है। इस आत्मस्वरूप को मथा जाए, इस चैतन्यस्वरूप में ही उपयोग का प्रतपन किया जाए, यह उपयोग इस चैतन्यस्वरूप में तपा करे तो यह तिरोहित आत्मतत्त्व प्रकट हो सकता है। ऐसा यह आत्मतत्त्व ही मेरा परमार्थ आलम्बन है, इसको छोड़कर अन्य किसी भी विभाव को मैं न पकडूँ, सबको भूल जाऊँ- ऐसी यह ज्ञानी पुरूष भावना कर रहा है।

प्रत्याख्यान की मंगलरूपता- जैसेलोकमें कोईपुरूष किसी से हैरान होकर, तंग आकर यह संकल्प करता है कि अब में उसका नाम भी न लूँगा, उसके निकट न जाऊँगा, उसको आज से छोड़ता हूं। कोई परम शरणभूत विश्राम पाया है इस लौकिक पुरूष ने, जिसमें तृप्त होकर, संतुष्ट होकर उस सताये गये वातावरण से उपेक्षा करता है? ऐसे ही यह ज्ञानी पुरूष इन रागद्वेषादि समस्त विभावों से बड़ा सताया गया है, हैरान है। कैसी मोहिनी धूल पड़ी है, पागलपन छाया है कि रंच भी तो कुछ सम्बन्ध नहीं है परपदार्थों से? लेकिन परपदार्थ ऐसे उपयोग में लदे हुए हैं किये थोड़े समय को भी, जिस समय ध्यान, सामायिक में बैठते हैं अथवा किसी प्रकार का धार्मिक कार्य कर रहे हैं, उस समय भी यह सारा प्लान उपयोग से हट नहीं पाता है। इतना यह चैतन्यप्रभु इन विकल्पों से सताया गया हे। साथ ही इस ज्ञानी ने अपने आपमें सहज परम आनन्दमय आत्मतत्त्व को देखा है, जिसे देखने के प्रसाद से तृप्त होकर अब संकल्प कर रहा हैं कि मैं इन विभावों के निकट न जाऊँगा। 'मैं' का अर्थ यहां उपयोग से है। यह मैं उपयोग अब किन्हीं विभावों का सहारा न तकूँगा।

स्व के उपादान और अपोहन का संकल्प– भैया ! हम विभावों को इस प्रकार जान लें कि ये केवल क्लेश के मूल हैं, इससे मुझ आत्मा को कोई भला नहीं होने को है। इन्हीं के संग से अनादि से अब तक संसार में रुलता चला आया हूं। अब मैं इस चैतन्य-चिंतामणि का ही आलम्बन रक्खूँगा। इस चित्स्वभाव के अवलम्बन में सहज-आनन्द की धारा धाराप्रवाह बह उठती है। रागादिक भाव तो स्वभाव से बहुत दूर हैं, अत्यन्त दूर हैं। भले ही ये विभाव आत्मतत्त्व में झलकें, किन्तु ये स्वभाव से बहुत दूर हैं। मैं चैतन्य स्वभावमात्र हूं। इस दूरवर्ती तत्त्व की रुचि में केवल मूढ़ता ही भरी हुई है, इसका फल संसार में रुलना है। मैं आत्मतत्त्व सर्वरूप निजस्वभाव को ही ग्रहण करता हूं।

परमोपेक्षागम्य तत्त्व- यह आत्मतत्त्व परम उपेक्षाभाव से ही लक्ष्य में आता है। रागद्वेष की वृत्ति जब तक होगी, तब तक उस वृत्ति से आत्मा लक्ष्य में नहीं आ सकता है। रागद्वेष की वृत्ति में कोई जड़तत्त्व ही नजर आयेगा, रागद्वेष स्वयं जड़भाव है, ये चेतकभाव नहीं हैं। जड़भावों में ही जड़ का निवास होगा, चैतन्यतत्त्व का विलास नहीं हो सकता है। जब रागद्वेष से परे रहकर परम उपेक्षाभाव में रहें तो उस यथार्थ संयम में रहते हुए यह आत्मा अपने परमार्थभूत आत्मतत्त्व को समझता है, जो आत्मतत्त्व ममकार से रहित है, यह ममता-परिणाम इस आत्मा का भाव नहीं है; जब ममता ही मेरी चीज नहीं है तो ममता के परिणाम में जो हुकुम दिया है, उस हुकुम में बह जाना, यह तो प्रकट व्यामोह है।

ये रागादिक भाव खुद अशरण हैं। जिस समय ये होते हैं, कुछ क्षण के बाद नियम से नष्ट हो जाते हैं। राग भाव के बाद दूसरा राग भाव आ जाता है, यह तो परेशानी है; पर जो राग भाव आया है, वह रागपरिणाम दूसरे क्षण ठहर नहीं सकता, इनका स्वरूप ही इस प्रकार का है। अत: जो रागादिक भाव स्वयं अशरण हैं, होकर मिटने वाले हैं, खुद प्रतिष्ठा नहीं पाते हैं; उन रागादिक भावों में रहकर अपने को शरणभूत समझना और ये रागादिक भाव जो हुकुम करें उसके वश होना, जिस पदार्थ का निशाना बनाया उस पदार्थ को अपना सर्वस्व समझना प्रकट व्यामोह है।

ज्ञानी की उत्सुकता- ज्ञानी की उत्सुकता है कि ममकाररहित अपने आत्मा में स्थित होकर अपने आत्मा का आलम्बन लूँ। जैसे भूला-भटका बालक कितनी ही जगह जाता है, पर उसे कहीं शरण नहीं मिलती। जब वह ढूंढ़ता हुआ अपनी बिछुड़ी हुई मां को देख लेता है तो उसकी गोद में जाकर संतोषभरी सांस लेता है। ऐसे ही समझिए कि यह जीव मोह की प्रेरणा से इस संसार में चारों ओर भटकता हुआ दूसरों को शरण मान-मानकर दूसरों की ठोकरें खाता फिरा। कभी अपने आपमें स्वभावरूप बसे हुए सहज आनन्द का दर्शन करता है, अपने आपके परम शरणभूत अपने स्वभाव को निरखता है तो उसकी गोद में ही विराजकर यह उपयोगमात्र आत्मा परम संतोष प्राप्त करता है। इस संतोष के मिलने के बाद अब वह यहां से हटकर अन्यत्र कहीं भी नहीं जाना चाहता है। ज्ञानी पुरूष ऐसा ही महासंकल्प लिए हुए चिंतन कर रहा है कि मैं इस समस्त कमनीय कांचन, धन-सम्पदा, परिजन- इन इन्द्रजालों में, मायाजालों में, विभावपर्यायों में, परपदार्थों में ममता को छोड़ता हूं।

बीती ताहि विसार दे, आगे की सुध लेहु- इस जीव ने पूरा पुरुषार्थ करके एक बार भी परपदार्थ में ममत्व को नहीं त्यागा है। कभी धर्म की भी धुन लगी, धर्म का भी कोई कार्य किया तो उन कार्यों के करते हुए में भी किसी न किसी पदार्थ में यह ममकार का संस्कार बनाये रहा। अपने आपको विशुद्ध निजस्वरूपमात्र नहीं अनुभव सका, शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अनुभव का सहज आनन्द न पा सका, इसी कारण यह दर-दर भटककर वस्तुवों से आशा कर-करके उनके लिए ही अपने तन, मन, वचन न्यौछावर करता रहा है और प्राणों की तरह माने गये इस धन को भी उन ही पर न्यौछावर करके यह अपने को कृतकृत्य समझता रहा है; पर हुआ वहां उल्टा ही काम। यह संसार भ्रमण को बढ़ाता रहा है। अब भाग्यवश उत्तम पर्याय मिली है, श्रेष्ठ मन मिला है, श्रुतज्ञान की प्रमुखता यहां हो सकती है तो अब यह कर्तव्य है कि ज्ञान विवेक का आलम्बन लेकर जो वास्तविक करने योग्य कार्य है, उसको कर लीजिए।

विशुद्ध आलम्बन- यह मेरा आत्मा ही परमार्थभूत यथार्थ आलम्बन के योग्य है। इस आत्मतत्त्व का मैं आलम्बन कर लूँ और समस्त विभाव-परिणतियों को जो संसार के अनेक संकटों को भुगताने में प्रवीण हैं, उन सब विभाव-परिणतियों का भी त्याग करता हूं। उन विभाव परिणतियों में कुछ तो सुख का रूपक रखकर सताने को आती हैं और कुछ जीव को दु:ख का रूपक रखकर सताने को आती हैं। जैसे वैषयिक रूप में सुख हो तो वहां भी आकुलता से ही भेंट होती है और चाहे दु:ख की स्थिति हो, वहां भी आकुलता ये भेंट होती हैं। इस प्रकार समस्त आकुलताओं का कारणभूत इन विभाव-परिणतियों का मैं परित्याग करता हूं। इस तरह प्रत्याख्यान का अधिकारी यह ज्ञानी पुरुष विशुद्ध चित्स्वभाव का आलम्बन ले रहा है।

सर्वकर्मप्रत्याख्यान- प्रत्याख्यानमय ज्ञानी पुरुष संकल्प कर रहा है कि मैं समस्त परद्रव्यविषयक ममता को छोड़ता हूं और निर्ममत्व आत्मतत्त्व के निकट रहता हूं। मेरा यह आत्मा ही सब कुछ है। मैं शेष समस्त विभावों को छोड़ता हूं। इस भावना में ज्ञानी ने समस्त विभावों का परित्याग किया है। समस्त विभावों का अर्थ एक ज्ञानविलास केअतिरिक्त अन्य समस्त परिणाम हैं, जो औपाधिक हैं। शुभ भाव, अशुभ भाव, पुण्यपरिणाम, पापपरिणाम- सभी परिणामों का यहां त्याग किया गया है। श्रद्धालु पुरुष चाहे शुभ भाव का परित्याग न कर सके, अशुभ भाव के परित्याग के बाद शुभ भावों का आलम्बन रखे, फिर भी यथार्थ तत्त्व समझता है कि मैं सर्वविभावों से मुक्त केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। इस प्रकार यह ज्ञानी समस्त पुण्य-पाप कर्मों का परित्याग करता है। पौद्गलिक जो पुण्य-पाप कर्म हैं, उनकी यह चर्चा नहीं है। जो अन्तस्तत्त्व का अत्यन्त अधिक प्रेमी है, वह भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध में ग्रहण और त्याग का विकल्प करे। यह तो होगा ही क्या? यहां तो अपने आपके परिणमन में जो शुभ और अशुभ भाव हैं, उनके विवेक की बात चल रही है।

नैष्यकर्म्यविषयक एक जिज्ञासा- इस ज्ञानी ने शाश्वत सहज चित्स्वभाव का आलम्बन करके समस्त शुभ-अशुभ भावों का परिहार किया है। अपने उपयोग को शुभ-अशुभ भावों में न अटकाकर इनसे परे चलकर परम लक्ष्यभूत शुद्ध ज्ञानप्रकाश आलम्बन लिया है। ऐसी चर्चा सुनकर किन्हीं अज्ञानी जनों को यह जिज्ञासा हो सकती है और किन्हीं दूसरों के कल्पित ऐसे कष्ट में सहानुभूति हो सकती है कि अहो ! ये साधुजन जिन्होंने पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग किया है, जिन्होंने घर-बार बाह्य समस्त परिग्रह छोड़ दिया है, किन्हीं बाह्य वस्तुवों में रागबुद्धि नहीं रखते हैं, किन्हीं को भी नहीं अपनाते हैं- ऐसे अकेलेपन में विराजे हुए साधु अशरण हैं। उनके लिए अब वहां क्या शरण है? यहां तो हम आप लोगों को बहुत शरण हैं, परिवार है, मित्रजन हैं, गुरूजन हैं या अन्य शिष्य हैं, बहुत से लोग शरण है। जंगल में विराजे हुए अकेले और जो किसी से प्रेम नहीं रखते हैं- ऐसे साधुजन तो अशरण हैं।

नैष्कर्म्य में परमशरण का विवेचन- आचार्यदेव कहते हैं किनिर्जन प्रदेश में रहनेवालेसाधुजन भी रंच भी अशरण नहीं हैं। उनका जो अमोघ शरण है,वह यही है कि उनका ज्ञान उनके ज्ञान में प्रतिष्ठित हो रहा है। भैया ! सुख-दु:ख, शांति-अशांति- ये सब ज्ञान की कला पर निर्भर हैं। जो बाह्यपदार्थों के सम्बन्ध में विकल्प किया करते हैं, वे सदा आकुलित रहा करते हैं; क्योंकि उन्होंने अपने आनन्दमयी स्थान को त्याग दिया है और वे बाह्यपदार्थों की ओर अपनी दृष्टि

बनाये हुए हैं। सर्व बाह्यपदार्थ भिन्न हैं और वे अपने आपमें ही अपना परिणमन करते हैं। उनसे इस आत्मा को कुछ प्राप्त नहीं होता है। उनके प्रति इस मोही ने इष्ट बुद्धि की है, यह उनका निरन्तर संयोग चाहता है; किन्तु वे तो पर ही हैं। जब तक संयोग है तो रहते हैं, नहीं है तो नहीं रहते हैं और वियोग तो अवश्य होगा ही। ऐसी परिस्थिति में यह विह्वल हो जाता है और जब तक संयोग है, तद्विषयक कल्पनाएँ कर-करके यह अपने को हैरान बनाये रहता है। शरण तो वास्तविक ज्ञान में ज्ञान का आचरित होना ही है। यही परम अमृत है। ज्ञान का ही नाम अमृत है। जो न मरे, उसे अमृत कहते हैं। मेरा मेरे लिए ऐसा कौनसा तत्त्व है, जो कभी मरता नहीं है, नष्ट न होता हो? वह तत्त्व है ज्ञानस्वभाव। यह नष्ट नहीं होता है, इसलिए अमृत है और यह ज्ञानतत्त्व मरा हुआ भी नहीं है, किन्तु गतिशील, निरन्तर जाननहार, जागता हुआ, सावधान और सचेत है, इसलिए भी अमृत है। ऐसे ज्ञानरूप आत्मतत्त्व को ये साधुजन वहां स्वयं ही भोगते रहते हैं।

अनाथपना- एक बार कोई राजा सैर करने के लिए या क्रूर परिणामी हो तो शिकार करने के लिए जंगल में गया। जंगल में एक मुनिराज को देखा। वे मुनि बड़े कांतियुक्त युवावस्थासम्पन्न प्रसन्न-मुद्रा में ध्यान कर रहे थे। राजा पर मुनि का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह वहां बैठ गया। थोड़ी देर बाद जब मुनिराज ने आंखें खोली तो राजा कहता है कि महाराज ! तुम यहां ऐसे भयानक विकट जंगल में अकेले बैठे हो, कोई शरण नहीं है, आप बड़ा कष्ट पा रहे हैं। आप कौन हैं? मुनि बोले कि मैं अनाथी मुनि हूं। राजा का दिल भर आया और बोला कि महाराज ! अब आज से आप अपने को अनाथी न कहिए। मैं आपका नाथ बन गया हूं। आप मेरे साथ घर चलो, बहुत बढ़िया महल में रहिए और जितना चाहे आराम कीजिए, भोग भोगिए। मुनि कहता है के मेरे हिताकांक्षी ! तुम कौन हो? राजा ने कहा कि महाराज मैं बहुत बड़ा राजा हूं। हजारों गांव मेरे राज्य में हैं, आप धोखा न समझें, मैं आपको बहुत अच्छी तरह से रक्खूँगा। इतनी बड़ी सेना है, इतने कार्यकर्ता लोग हैं, इतने मन्त्री हैं, इस प्रकार राजा ने अपना सारा वैभव बताया। उत्तर में मुनि कहते हैं कि राजन् ! ऐसा तो मैं भी था। इतनी बात सुनकर राजा का दिमाग चकरा गया। बोला कि महाराज ! यह क्या कह रहे हैं? ऐसा है तो आप फिर अपने को अनाथी क्यों कह रहे हैं? मुनि बोले कि सुनो राजन् ! मेरे सिर में बहुत जोर का दर्द हुआ, जब मैं राज्य कर रहा था। अत: बहुत से डाक्टर आए, मित्रजन आए, बहुत से लोग सेवा करने आए, बहुत से लोग सुन्दर वाणी बोलकर सेवा कर रहे थे; किन्तु मेरे दर्द को कोई तिलभर भी न बांट सका। उस समय मेरे चित्त में आया कि मैं अनाथ हूं। उसी समय मेरे वैराग्य जगा और घर छोड़कर यहां चला आया और अपनी साधु-साधना कर रहा हूं। तब राजा मुनिराज के चरणों में गिर पड़ा और बोला कि महाराज ! मैं तो आपके चरणों की धूल हूं।

पर से अनाथपना- लोग अपने को स्त्री से, पुत्र से, घर से, इज्जत से, पोजीशन से सशरण समझते हैं। उन्हें शरण मिला क्या? लोग दूसरों की सेवा कर-करके, दूसरे का दिल रखकर, दूसरों को दु:ख न हो, इन्हें बहुत सुख रहे- ऐसा विकल्प बनाकर और अपना जीवन व्यर्थ खोकर समय यों ही निकालकर अपनी बरबादी कर रहे हैं। शरण है कौन? ये साधुजन जो वन में अकेले विराजे हैं, जो अपना उपयोग केवल अपने आपके अन्त:प्रकाशमान् इस शुद्ध

चित्स्वभाव में लगाए हैं और बहुत उत्कृष्ट सहज परम आनन्द भोग रहे हैं, परमार्थ आनन्द से तृप्त भी हैं और अधा भी नहीं रहे हैं, निरन्तर उसी ही आनन्द को भोगते चले जा रहे हैं- ऐसे साधुजन स्वयं सशरण हैं। ऐसी वृत्ति उनकी तब ही बन सकी, जब उन्होंने आत्मा के शुद्ध तत्त्व को जाना और शुभ-अशुभ भावों में वे अटके नहीं। जिनके लिए यह काम अत्यन्त सुगम हो गया है, निरन्तर अपने आपमें स्थित रहकर अपने ज्ञानप्रकाश में ही प्रकाश पाते रहे, ऐसा जिनका केन्द्रित उपयोग हो गया है, वे साधुजन भी खुद के लिए शरण हैं और ऐसे साधुसंतों की सेवा-संगति में, भक्ति में जो जन रहा करते हैं, वे भी कृतार्थ हैं। ऐसी प्रत्याख्यानमयी मुद्रा को धारण करने वाले साधुजन जयवन्त हों। ऐसी साधुता तभी प्रकट हो सकती है, जब मन, वचन, काय सम्बन्धी सभी इच्छावों का परिहार कर दें, इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी सभी इच्छावों का परित्याग कर दें, जो जगत् में बाह्यपदार्थों से अपने लिए कुछ नहीं चाहते।

लोकेषणा की विपदा- भैया ! मायामयी कुछ मलिन जीवों ने, मनुष्यों ने कुछ अच्छा कह दिया, कुछ प्रशंसा कर दी तो प्रथम तो उन्होंने हमारी प्रशंसा नहीं की। यह निर्णय रखो कि उनके अन्दर कषाय है, स्वार्थ है, जिनकी उन्हें पूर्ति करनी है। सो हमारे निमित्त से उनकी कषाय की गिजा मिली है, अत: वे खुशी में ऐसा कह रहे हैं, वे हमारी प्रशंसा नहीं कर रहे हैं। व्यवहार में मान लो कि वे प्रशंसा भी कर रहे हैं तो उससे पूरा क्या पड़ेगा? कर्मों के प्रेरे भव-भव के भटकते हुए आज मनुष्यभव में आए तो यह कितने दिनों की जिंदगी है? यहां से जाना पड़ेगा। आगे की कैसी यात्रा होगी? जो मनुष्य अपने परिणामों को न संभाल सके, उनकी यात्रा खोटी होगी। जहां से निकलकर मनुष्य हुए हैं, उसी कुयोनियों में फिर जन्म-मरण होगा।

स्वाधीन साधना- भैया ! आत्मकल्याण के लिए प्रथम आवश्यक है कि हम समस्त इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी इच्छावों का परिहार करें, नियंत्रण करें, इसके पश्चात् अपने आपमें सहज स्वयं दृष्ट हुए उस आनन्द पिण्ड को ग्रहण करते रहें। जो सर्व प्रकार की वान्छावों का परित्याग करेगा, उसके ही निश्चय प्रत्याख्यान होता है यह ज्ञानी पुरुष उत्साहपूर्वक चूँकि सुगम हो गया है ना विभावों का परित्याग करना और स्वभाव का ग्रहण करना, उसने निकटपूर्व में बहुत अभ्यास किया है इस ज्ञान की उपासना का, ऐसे सुगम अभ्यस्त पुरुष को विभावों का त्यागना और स्वभाव का ग्रहण करना अत्यन्त सुगम होता है। जैसे यात्रा करने वाले लोग अपने साथ खाने पीने का तैयार सामान बहुत सा ले जायें तो जब भी उन्हें भूख लगती है तो तुरन्त अपना डिब्बा निकालते हैं और खा लेते हैं, उनको पेट का भरना अत्यन्त सुगम रहता है। ऐसे ही ज्ञान का भोजन जो यात्री अपने साथ लिए जा रहा है उसको जब भी अशान्ति हुई सो तुरन्त ही उस विभाव से विमुख होकर इस ज्ञानमय भोजन का भोग कर लेता है।

परमपुरूषार्थ का परमोत्साह- जिसे अशान्ति का त्यागना औरशान्ति का ग्रहण करना अत्यन्त सुगम हो जाता है, ऐसा सुगम अभ्यस्त यह योगी दृढ़ संकल्प कर रहा है कि मैं समस्त शक्ति लगाकर इस प्रबलतर विशुद्ध ध्यान को करूँगा जिस ध्यान के प्रताप से यह शक्ति और प्रबल होती है। उस समस्त शक्ति के द्वारा सब प्रकार की वान्छावों का त्याग हो जाता हैं। जैसे जाड़े के दिनों में नहाने के प्रोग्राम से कुछ बालक तालाब के किनारे पहुंच तो गए पर तालाब के पास बनी हुई भींत पर बैठे हुए झुक रहे हैं, ठंड लग रही है, तालाब में कैसे प्रवेश किया जाय? कोई बालक एक कड़ा दिल

करके उत्साह बनाकर तालाब में कूदता है तो भींत छोड़ने के बाद अब उसे भींत तो शरण रहती नहीं, वह तो तालाब में ही गिर गया। तालाब में गिरने के बाद उसे अब ठंड नहीं लगती। जब तक तालाब में न कूदा था तब तक ठंड का डर था, अब वह बहुत देर तक जितना चित्त चाहता है उस तालाब में स्नान कर रहा है, ऐसे ही कुछ पढ़ लिखकर अभ्यास करके साधना बनाकर कोई ज्ञानाभ्यासी इस ज्ञानानुभव के तालाब के निकट तो पहुंच गया है पर वहां झुक रहा है, वह जगह नहीं छोड़ी जा रही है जिस जगह यह बैठा हुआ है। कोई कड़ा दिल करके हिम्मत बनाकर, साहस करके केवल भावमय साहस बनाता है, अपने ग्रहण किए हुए बाह्यपदार्थविषयक वासना की भूमि को त्यागकर इस ज्ञानसागर में, तालाब में कूदा तो फिर उसे पूर्व की चीजें शरण तो नहीं रही। वह ज्ञान की ओर आया। वहां ज्ञान में ज्ञान पहुंचने पर सारी अशान्ति दूर हो जाती है और अद्भूत स्वाभाविक आनन्द भी अनुभूत होने लगता है। अब इस आनन्द से तृप्त होकर पहिले छोड़ी हुई भूमिका को भूल जाता है और अपने ज्ञान माफिक, बल माफिक उस ज्ञानसागर में अवगाहन करके समस्त संतापों को दूर कर लेता है।

ध्येयविवेक की प्रथमावश्यकता- अहो,कैसा मोह का नाच है कि यह जीव कुछ ही समय को विभावों का परित्याग नहीं कर सकता है। रातदिन भीतर में परिजन और सम्पदाविषयक वासना बनाये रहता है। कभी कुछ भाव भी जाय धर्म की ओर तो भी वह वासना भीतर छुपी हुई काम कर रही है। वह वासना थोड़ी ही देर बाद इस साधक पर आक्रमण कर देती है और भी थोड़ा बहुत धर्मध्यान का जो प्रोग्राम है उसको खत्म कर देती है। जिस जीव ने ध्येय ही सम्पदा का बनाया हो उस ध्येय वाले मनुष्य को समझा बुझाकर या किसी कारण स्वयं ही इच्छा करके वह कुछ धर्मध्यान की ओर आये तो भीतर जो ध्येय का विष अपने अन्तर में लिए हुए हैं जब तक उसे नहीं त्याग सकते हैं तब तक इस ज्ञानभाव का स्वाद कैसे आ सकता है?

ध्येयविशुद्धि में ही शुद्ध स्वरस का अनुभव- फूलों पर रहने वाला कोई भँवरा सैर करता हुआ खेतों में पहुंचा तो वहां विष्टावों पर भी घूमने वाले भँवरे मिले। उनसे कहा कि तुम यहां दुर्गन्धित पदार्थ खाया करते हो, हमारे साथ चलो वहां तुम्हें सुगन्धित फूलों का मकरंद खाने को मिलेगा। बहुत समझाया बुझाया, बहुत देर बाद उसके अनुरोध से उनमें से एक मल का भँवरा चला तो सही, किन्तु इस शंका में था कि कहीं वहां उपवास ही न करना पड़े, सो अपनी चोंच में मल का कोई टुकड़ा दबाकर चला। जब सुगंधित फूलों पर पहुंच गया, तो वह भँवरा पूछता है कि कहो भाई कुछ स्वाद तुम्हें आया? तो मल का भँवरा बोलता है कि मुझे तो कुछ भी स्वाद नहीं आया। फिर थोडी़ थोडी़ देर बाद कई बार पूछा, उत्तर वही का वही। फिर कहा कि तुम अपने मुँह में कुछ लिए तो नहीं हो? मल का भँवरा बोला- हम एक दिन का कलेवा लेकर आये हैं। अरे अपने मुँह से तू उसे निकाल दे और फिर देख कि तुझे स्वाद आता है कि नहीं? उसने अपने मुख से उस विष्टा के टुकड़े को निकाल दिया और फिर स्वाद लिया तो उसे अब फूलों के मकरंद में बड़ा स्वाद आया। तब उस भँवरे ने कहा- ओह इन सुगंधित फूलों के मकरंद का स्वाद तुम कब से ले रहे हो? यों ही समझिये कि इस मायामयी लोक में कोई अपने बड़प्पन की चाह बनाए हुए हो तो फिर उसे शुद्ध ज्ञान के आनन्द का

अनुभव कैसे हो सकता है? इसलिए अपना ध्येय विशुद्ध बनाने का सर्वाधिक प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा यह शुद्ध ध्येय वाला पुरूष ही सर्वप्रकार के विभावों को छोड़ सकता है।

गाथा 100

आदा खु मज्झ णाणे आदा में दंसणे चरित्ते य।

आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।100।।

आत्मा का स्व के भाव में अवस्थान- आत्मा मेरा मेरे ज्ञान में है। आत्मा मेरा दर्शन और चारित्र में है। आत्मा मेरा प्रत्याख्यान स्वरूप में है और संवर तथा योग में मेरा आत्मा है। जो कुछ भी उपादेय तत्त्व है, हितकारी उपाय हैं उन सब वृत्तियों में वह मेरा आत्मा अनुभूत होता है। सर्व ही स्थितियों में आत्मा ही उपादेय है। हित के जितने भी कार्य हैं वे सब कार्य आत्मस्वरूप हैं। एक आत्मदृष्टि न रहे, आत्मसम्बन्ध न रहे तो कोई भी कार्य धर्म के नहीं कहला सकते। यह आत्मतत्त्व जिसको धर्मवृत्तियों में निरखा जा रहा है वह अनादि अनन्त है।

आत्मतत्त्व की अनादिनिधनता- यह जीव जो लौकिक पुरुषों के द्वारा विदित है, यह देहाकर संसारी त्रस स्थावर प्रकारों में वह आत्मतत्त्व नहीं है। जो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पंचइन्द्रिय के रूप में विभक्त है जिससे लोग व्यवहार करते हैं, वचनालाप करते हैं, जिन पर उनका लक्ष्य रहता है। हम किसको सुना रहे हैं ऐसा लक्ष्यभूत जो कुछ लौकिक जनों को रहता है वह सब आत्मतत्त्व नहीं है। यह आत्मतत्त्व अनादि अनन्त है और जिसको देखा जा रहा है वह सादि सान्त है, कभी उत्पन्न हुआ है और कभी मर जायेगा, ऐसा ही तो लोगों को विदित है, वह मैं आत्मा नहीं हूं। मैं अनादि अनन्त हूं।

अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाव शुद्ध तत्त्व- लोगों को जो कुछ दिखता है वह सब मूर्तस्वरूप है; रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड है। यह जड़ है। मैं जाननहार हूं। जो रूप आदिक सहित है वह जाननहार त्रिकाल नहीं हो सकता है। जानन एक अमूर्त भाव है, वह किसी विशिष्ट अमूर्त पदार्थ में ही हो सकता है। मैं चेतन हूं, अमूर्त हूं, जैसे कि इन्द्रिय के जानन द्वारा जानन की वृत्ति चल रही है ऐसा इन्द्रियरूप मैं नहीं हूं। मैं इन्द्रियों से परे परमार्थस्वभावरूप हूं, अतीन्द्रिय स्वभावी मैं हूं। इसके परमार्थस्वभाव के अतिरिक्त समस्त परपदार्थों से विविक्त हूं, इसी कारण शुद्ध हूं।

शुद्धत्व का स्वरूप- भैया ! शुद्ध कहा करते हैं अकेले स्वरूप के रह जाने को। लोक में भी जिस चीज को शुद्ध करने की बात कही जाती है उसका भी अर्थ है कि इसको अपने स्वरूपमात्र रहने दो। जो दूसरी चीजों का सम्पर्क हो गया उसे हटा दो, इसी के मायने शुद्ध करना कहलाता है। किसी चौकी पर कूड़ा लग गया हो, कबूतर की बीट पड़ गयी हो तो लोग कहते हैं कि इसे शुद्ध कर दो। उसे शुद्ध कर दो का अर्थ है कि इस चौकी को खाली चौकी भर

रहने दो। इसमें जिस परद्रव्य का सम्पर्क हुआ है उसे हटा दो। सम्पर्क हटाने के भाव को ही शुद्ध करना कहा जाता है। कोई पुरुष चांडाल से छू गया है तो उसे कहते हैं कि वह अशुद्ध हो गया है, इसे शुद्ध करो, तो शुद्ध करने का वहां तात्पर्य यह है कि चाण्डाल से जो छूवा हुआ है, वह न छूवा हुआ हो जाय। अब न छूवा हुआ हो जाय, इसका उपाय क्या है? तो लोगों ने नहाना उपाय समझा है। पानी से नहा लो तो वह छूवा हुआ हट जायेगा। वहां पर भी शुद्ध का अर्थ परसम्बन्ध हटाने का है। यह आत्मतत्त्व पर के सम्बन्ध से हटा हुआ ही है इसलिए शुद्ध है।

सहजानन्दस्वभाव- यह आत्मतत्त्व अपने सहजस्वरूपमात्र है, कोई भी पदार्थ है तो, अस्तित्त्व के कारण स्वयं का जो निजस्वरूप होता है उस स्वरूपमात्र है। वह स्वरूप सहज है, वह किसी दिन से उस पदार्थ में नहीं आया, अनादि से ही वह पदार्थ है और अनादि से ही तन्मयस्वरूप है, ऐसा यह मैं सहज स्वरूपमात्र हूं। जीवों को सुख से प्रयोजन होता है। अन्य कुछ भी अवस्था इस जीव में गुजरे, उससे प्रयोजन नहीं है। एक सुख अवस्था होना यह मात्र प्रयोजन है। यह आत्मा किसी भी अवस्था में, किसी भी पर्याय में पहुंचकर कितना भी लम्बा विस्तार से हो जाय, उससे यह जीव अपनी हानि नहीं समझता है, किन्तु दु:खरूप अवस्था हुई तो हानि समझता है, किन्तु अन्तस्तत्त्व में निरखो तो दु:ख का यहां स्वभाव ही नहीं। इस जीव में चाहे दु:ख आ पड़े, वह औपाधिक बात है किन्तु स्वभाव आनन्द का ही है। जो आत्मा के अस्तित्त्व के कारण आत्मा में स्वयं हो, उसे स्वभाव कहते हैं। आत्मा में स्वयं आनन्द का स्वभाव है पड़ा हुआ है।

शाश्वत अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभाव- यह आनन्द स्वभाव आत्मा में अनादि से है। जबसे आत्मा है तब से ही आनन्दस्वभाव है। यह आनन्दस्वभाव अनन्त है। जब तक भी अस्तित्त्व है तब तक है। कब तक है? सदा अस्तित्त्व है, तो सदा ही इसका आनन्दस्वभाव है। वह आनन्दस्वभाव अमूर्त है, आनन्दस्वभाव का परिणमन भी अमूर्त है। वह आनन्द इन्द्रिय द्वारा गम्य नहीं है। इन्द्रिय द्वारा जो भी भोग भोगा उस भोग में आनन्द की अपूर्ति है, तृष्णा है, विह्वलता है। इन्द्रिय के द्वारा वह आनन्दस्वभाव पकड़ा नहीं जा सकता। यह अतीन्द्रियस्वभावी है, ऐसा शुद्ध सहज आनन्दस्वरूप आत्मा है जैसा अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावी आनन्दस्वभाव है ऐसा ही अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावी ज्ञानस्वभाव है। समस्त स्वभाव, समस्त शक्तियां इस मुझ चैतन्य ब्रह्म में अनादि अनन्त हैं, अमूर्त हैं और अतीन्द्रियस्वभावी हैं।

आत्मा का प्राप्तिस्थान- अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावी यह आत्मा कैसे मिलेगा? किसी बाह्य पदार्थ में दृष्टि लगाया तो मिलेगा या बाहर किसी परमात्मा को देखो तो मिलेगा? किस जगह मेरा यह परमशरणभूत आत्मब्रह्म मिलेगा? वह सम्यग्ज्ञान में मिलता है। यह ज्ञान ब्रह्म है। अत: ज्ञानस्वरूप में ज्ञान द्वारा ही ज्ञान करने से मिलेगा। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा यह आत्मा। शुद्ध ज्ञानचेतनापरिणत है। सहज शुद्ध ज्ञानस्वभावी, दर्शनस्वभावी है। वह सम्यग्ज्ञान में मिलेगा, दर्शन में मिलेगा और जब ज्ञान दर्शन में मिला तो वही सम्यग्दर्शन का विषय हो गया। भली प्रकार इस निज आत्मस्वभाव को देखें तो वहां यह आत्मतत्त्व मिलता है। यह परमपारिणामिक भावरूप है। जिसका परिणमन प्रयोजन है

पर परिणमनस्वरूप नहीं है जिस पर परिणमन होता चला जाता है पर जो वही ध्रुव रहता है ऐसा ध्रुव चैतन्यस्वभावमात्र मैं आत्मा हूं।

सिद्धत्व की सिद्धि का स्वत: सिद्ध स्वयं साधन- योगीजन बड़ी भक्तिभरी दृष्टि से जिस विकास देखते है ऐसी सिद्ध अवस्था का कारणभूत यह मेरा ध्रुव चैतन्यस्वभाव है। मेरा विकास मैं करूँ तो होगा। मेरा विकास मेरा जो सहज शुद्धस्वभाव है उसका ही आलम्बन करें तो होगा। बाहर में व्यवहार के जितने धार्मिक काम किए जाते हैं उन सबका प्रयोजन अपने चैतन्यस्वभाव का आलम्बन करना है। यह वास्तविक धर्म जिसको नहीं मिला है वह बाहर ही बाहर किन्हीं भी बातों में अपनी रुचि माफिक धर्म की कल्पना करके विवाद किया करते हैं। अरे मैं स्वयं धर्मस्वरूप हूं। उसकी जानने की एक पद्धति है, वह पद्धति स्वाधीन है, सुगम है। ज्ञान ही स्वयं मैं और मैं ही अपने को न जान पाऊँ यह तो मोह का अँधेरा है। जैसे पानी में ही रहती हुई मछली प्यासी बनी रहती है तो यह अंधेरे जैसी बात हो जायेगी, ऐसे ही यह मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कुछ मैं हूं ही नहीं, फिर भी मैं अपने इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व को न जान सकूँ यह तो बड़ा अंधेर है।

संकटहारी परम ब्रह्म- भैया ! इस जीव को निज की ही बात नहीं मिली सो यह जीव अत्यन्त असार जड़ परिग्रहों के विसम्वाद में फंस गया। इस मोही जीव को केवल लौकिक वैभव ही देवता की तरह दिख रहा है। जो परमदेव है उसकी रक्षा नहीं करता है। बाह्य जड़ वैभवों में आसक्ति करके अपने आपके इस अमूल्य समय को बरबाद कर रहा है, अपने आपमें ही घाव कर रहा है। यह मैं आत्मतत्त्व सहज सम्यग्दर्शन के विषय में मिलूँगा, इसके मिलने की भी पद्धति है। स्वयं को चारित्र रूप बनाना होगा। हम संयत तो रहें नहीं, अपना उपयोग जड़ असार बाहरी पुद्गलों में फंसाये रहें तो वहां इस आत्मप्रभु का मिलन नहीं हो सकता। यह निजनाथ मिल जाय तो सारा दारिद्र्य, सारे संकट इसके समाप्त हो जायेंगे।

अन्तस्तत्त्व की अन्त:संयमसाध्यता- यह आत्मतत्त्व मिलेगा अपने अंत:संयम के बल से। ऐसी चारित्र रूप परिणति हो जिससे यह मैं ज्ञानस्वरूप अपने आत्मतत्त्व में अविचल स्थित रह सकूँ, ऐसे चारित्र की दृष्टि हो, यत्न हो तो उस यत्न में यह आत्मतत्त्व दर्शन दे सकता है। यह चारित्र साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति का उपायभूत है उस ही में अविचलरूप से स्थित रह जाय ऐसी सहज परमचारित्र परिणति कुछ बने तो उसके द्वारा उस परिणति का स्रोतभूत जो सहज चारित्र स्वभाव है तन्मात्र तत्त्व में मेरा परमात्मा जो सन्निहित है वह दृष्ट हो जायेगा। उस अपने ही संयम के बल से, चारित्र के बल से, अपनी ही शान्ति के प्रसाद से इस परमपिता, परमशरण चैतन्य परम ब्रह्म को निरख सकता हूं। मेरा आत्मा अन्यत्र कहीं नहीं है। मेरे ही ज्ञान में, मेरे ही दर्शन में और मेरे ही चारित्र में यह आत्मा है। भैया ! जो जीव बाहरी पदार्थों में जो सुख ढूंढ़ते हैं वे सुख क्या ढूँढ़ते हैं, इतने भूले भटके हैं कि वे अपने आपके आत्मा को ही मानो बाहर ढूँढ़ते हैं, परन्तु यों कहीं मिलता नहीं हैं, मिले कैसे? आत्मा को ही मानो बाहर ढूँढ़ते हैं, परन्तु यों कहीं मिलता नहीं है। मिले कैसे? आत्मा का जो चिन्ह है, चैतन्य परिणति है उसकी ओर

दृष्टि हो तो आत्मा मिले।

परिचयचिह्न- एक बार एक बुढ़िया ने अपने बेटे को साग भाजी खरीदकर लाने कि लिए भेजा। उसका नाम रुलिया था। बच्चा बड़ा बेवकूफ सा भूला बिसरा सा रहा करता था बच्चा बोला, मां मैं बाजार न जाऊँगा, यदि मैं बाजार में गुम गया, खो गया तो फिर मेरा क्या हाल होगा? मां ने उसके हाथ की कलाई में एक डोरा बाँध दिया और कहा, देखो बैठा तू अपना यह डोरा देखते रहना, जिसमें यह डोरा बँधा है वही तू है, तू गुमेगा नहीं। वह चला गया बाजार। धागा कच्चा था। भीड़ अधिक थी, भीड़ की कशमकस से वह डोरा टूट गया तो वह बच्चा वहीं बाजार में रोने लगा, हाय मैं गुम गया, मैं गुम गया। रोता हुआ घर आया। और मां से कहता है कि मैंने तुमसे कहा था ना कि मैं गुम जाऊँगा तो क्या हाल होगा? देख अब मैं गुम गया था? मां बड़ी परेशान हुई। यही तो बच्चा है और कह रहा है कि मैं गुम गया हूं। मां ने कहा, बेटा तू कहा गुम गया, तू ही तो है। किन्तु, वह देख रहा है तो डोरा हाथ में नहीं मिल रहा है, सो वह यह विश्वास बनाए है कि मैं गुम गया, और रोने लगा। तो मां बोली बैठा तू थक गया हैं, थोड़ा सो जा, तेरा मैं तुझे मिल जायेगा। वह सो गया तो उसकी मां ने कलाई में डोरा बाँध दिया। जब वह बच्चा जगा तो मां ने कहा- बेटा तेरा मैं मिल गया ना तुझे? बच्चे ने देखा तो कलाई में डोरा बँधा हुआ था। बोला- हां मां, मेरा मैं मुझे मिल गया। उसके मैं का चिह्न डोरा था, जिसको देखकर वह अपना विश्वास कर सकता था। यहां हमारा चिह्न ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है जिसको देखकर यह विश्वास होता है कि यह मैं हूं। यह चैतन्य चिह्न न बिसरे तो स्वयं व ज्ञान व आनन्द सब आत्मगत है।

व्यामोह का संकट- व्यामोही पुरुष किन-किन तत्त्वों में 'मैं' का अनुभव कर रहे हैं? कैसा संकट है इन जीवों पर मोह का? रहना कुछ नहीं है पास, सारा का सारा छोड़कर जायेंगे, मगर गम नहीं खाते। पुण्योदय से कुछ मिला है तो उसमें अघाते नहीं हैं, तृष्णा कर-करके दु:खी हो रहे हैं। यह नहीं जानते कि सर्ववैभव प्रकट असार हैं, भिन्न है। यह तो पुण्य का ठाठ-बाट है। मैं तृष्णा करके, कषाय करके अपना पुण्य बिगाड़ लूँगा तो यह सम्पदा न रहेगी। यह पुण्य-धन रहेगा तो सम्पदा इससे कई गुणी सामने आएगी; पर सम्पदा को बिगाड़ने से पुण्य बिगड़ता है। सम्पदा की हठ करने से, अन्याय से, सम्पदा को सञ्चित करने से पुण्य बिगड़ता है और उससे कुछ भली परिस्थिति नहीं आ सकती है। ज्ञानी को लोकसम्पदा की भी परवाह नहीं हैं। वह तो सर्व से विविक्त सहज शुद्ध स्वरूप के दर्शन में ही तृप्त रहा करता है। जो लोग इस आत्मा को भूले हुए हैं, वे ही बाहर में सुख खोजा करते हैं।

कायरता में भोगसेवन- विषयाभिलाषी पुरुष इस सुख के पीछे दूसरे जीवों के आगे कायर बन जाते हैं। इन्द्रिय के विषय वीरतापूर्वक कैसे मिल सकते हैं? कायर होकर ही ये विषयसुख मिला करते हैं। खैर, किसी तरह से भोगें, पर इतना तो समझना ही चाहिए कि बिना कायरता के ये विषय सुख नहीं भोगे जाते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय कायर बनकर ही भोगा जाता है। सभी इन्द्रिय और मन के विषयों का सब कुछ भोग कायर बनकर ही किया जाता है। यह अज्ञानी परवस्तुवों से अपना हित मानकर कायर होता हुआ अपना जीवन व्यर्थ गँवा रहा है। उसे यह पता नहीं है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं और यह मैं विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव से परिपूर्ण हूं, इसमें क्लेश का नाम ही नहीं है। इसका भी ऐसा उत्कृष्ट स्वभाव है कि सारे विश्व का यह जाननहार बन जाए।

निरीहता में परम समृद्धि- जब तक यह मैं बाहर के पदार्थों को जानने की उत्सुकता रखता हूं, तब तक मेरा ज्ञान रुद्ध है, हमारे ज्ञान का प्रस्तार नहीं हो सकता और जब मैं किसी पदार्थ को जानने की उत्सुकता ही न करूँ तो मेरा ज्ञान सारे विश्व का जाननहार बन जाएगा। जो चाहता है उसे मिलता नहीं है, जिसे मिलता है वह चाह नहीं रहा है। जो सारे विश्व का ज्ञाता बनकर प्रभुता की सोचता है, उसे वह ज्ञान साम्राज्य नहीं मिलता और जो सर्व इच्छाओं से रहित हैं, उन्हें यह ज्ञान साम्राज्य मिलता है। अपना परमार्थ वास्तविक जो साम्राज्य है, उसको प्राप्त करने का यत्न करें, अपने इस ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करें तो हमारा यह अनन्त साम्राज्य मिल सकता है।

साधुवों की मार्गणा- जिनके पांचों इन्द्रियों का प्रसार दूर हो गया है अर्थात् जो इन्द्रियों के परम संयमी हैं, शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह रह गया है अर्थात् समस्त परिग्रहों का जहां त्याग हो चुका है, जो समस्त परद्रव्यों से पराङ्.मुख हैं, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने के कारण सहज उदासीन अवस्था को प्राप्त हैं- ऐसे भेदविज्ञानी साधु विचार कर रहे है कि मेरा आत्मा प्रत्याख्यान भाव में है। आत्मा कहां खोजा जाए, किस स्थान में आत्मतत्त्व मिले? इसके विवरण में यह गाथा कही जा रही है।

अन्तर्मार्गणा- यह आत्मा कहीं बाहर अथवा भीतर, किसी भी ओर कान लगाकर सुनने से विदित नहीं होता है और न आंखों द्वारा कहीं देखने से इसका कुछ भी आसार नजर आता है। किन्हीं भी इन्द्रियों के द्वारा इस अन्तस्तत्त्व का मिलन नहीं होता है। यह आत्मतत्त्व कहां मिलता है अर्थात् यह जीव किस प्रकार का यह परिणाम बनाए कि आत्मतत्त्व दृष्ट हो जाए? इसकी यहां चर्चा चल रही है। यह आत्मा जो कि स्वयं है, निकट भी क्या कहें, खुद ही तो वह है; यह आत्मा खुद में ही मिलेगा। बाहर कहां मिलेगा? इस आत्मा को किस रूप में देखें कि खुद को मिल जाए? इसे देखिए। यह आत्मा समस्त परभावों से विविक्त है।

सुखदु:खरूप विकारों का प्रत्याख्यान- यह जीव संसारावस्था में,सुखदु:खभावों में रमा करता है, सुख में रुचि करता है और दु:ख में डरता है- ये दो बातें इसके निरन्तर चला करती हैं। इस संसारी प्राणी का और कुछ दूसरा ध्येय नहीं है। जितने भी प्रयत्न यह जीव करता है, वह इसी बात का करता है कि मुझे सुख मिले, दु:ख दूर हों। इसके लिए अथक् प्रयत्न करता है, किंतु उन्हीं प्रयत्नों का यह परिणाम निकलता है कि इसे आनन्द नहीं मिलता है, बल्कि दु:ख ही आक्रमण कर जाता है। सुख-दु:ख दोनों की विकारभाव हैं। सुख इन्द्रियों को सुहावना लगता है और दु:ख असुहावना लगता है। सुहावना लगे, तब भी विह्वलता है और असुहावना लगे तब भी विह्वलता है। सुख और दु:ख दोनों ही अवस्थाएँ आकुलतारूप हैं। इस आत्मतत्त्व के सुख और दु:ख का संन्यास है, यह आत्मा सुख- दु:ख के प्रत्याख्यानस्वरूप है। ये सुख-दु:ख आनन्दगुण के विकार हैं, आत्मा की अशुद्ध अवस्था है। आत्मा के सत्त्व के ही कारण ये उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं है, बल्कि पुण्यकर्म और पापकर्मरूप परद्रव्यों की उपाधि का निमित्त पाकर ये सुख और दु:ख अवस्थाएँ उत्पन्न होती है।

पुण्य–पाप कर्मों का प्रत्याख्यान- इन सुख-दु:खों का निमित्तभूतपुण्य–पाप कर्म भीइस आत्मा में नहीं हैं, उनसे भी यह अत्यन्त दूर है। पुण्य-पापभीएकक्षेत्रावगाही में हैं और सुख-दु:ख भी एकक्षेत्रावगाही हैं। पुण्य-पाप कर्मों का उपादान तो

पौद्गलिक कार्माण स्कन्ध है और सुख-दु:ख का उपादान यह जीव है, फिर भी जीव का जो शुद्ध सहजस्वरूप है, चैतन्यमात्र स्वभाव है, तन्मात्र ही यह आत्मा है। वस्तुत: स्वभावमात्र आत्मस्वरूप को दृष्टि में लेकर देखें तो वे सुख-दु:ख भी आत्मा से अत्यन्त दूर हैं अर्थात् इसके स्वभाव में सुख-दु:ख का प्रवेश नहीं है और उसी स्वभाव को लक्ष्य में लेकर अथवा समग्र आत्मद्रव्य को लक्ष्य में लेकर भी देखें तो ये पुण्यकर्म और पापकर्म एकक्षेत्रावगाह होकर भी अत्यन्त दूर हैं। पुण्य-पाप कर्मों का तो इस जीव में अत्यन्ताभाव है- ऐसे पुण्य-पाप कर्मों का भी प्रत्याख्यान इस जीव में स्वत: बना हुआ है।

शुभाशुभ भावों का प्रत्याख्यान- पुण्य-पाप कर्म केहेतुभूत हैं शुभ भाव और अशुभ भाव। ये शुभ अशुभ भाव आत्मा के विकार भाव हैं, इनका उपादान आत्मा है, फिर भी यह भाव स्वभाव में नहीं है। इन शुभ-अशुभ विकार भावों की, चारित्रगुण व श्रद्धागुण की इन विशेष अवस्थावों की, विभावों की, औपाधिक तत्त्वों की स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं है, इस कारण ये शुभ-अशुभ भाव भी चैतन्यमात्र आत्मा से अत्यन्त दूर हैं। यह मेरा ध्येयभूत आत्मतत्त्व इन छहों द्रव्यों से परे है, दूर है। स्वयं ही प्रत्याख्यान इसका स्वरूप है। ऐसे प्रत्याख्यानस्वरूप भाव में आत्मतत्त्व को देखना चाहिए, इसी विधि से यह आत्मतत्त्व दृष्ट होता है। यह मैं आत्मा प्रत्याख्यानभावमय हूं। प्रत्याख्यानस्वरूप यह ज्ञायकस्वभाव है। इस ज्ञायकस्वरूप में यह मैं आत्मतत्त्व हूं। इस प्रकार यह भेदविज्ञानी, निर्ग्रंथ, शुद्धोपयोग का उद्यमी साधु विचार कर रहा है कि यह मेरा आत्मा कहां मिलेगा? जो आनन्द का पुंज है, जिसके मिलने से आनन्द ही आनन्द बरसता है, सर्वप्रकार के अन्धकार दूर हो जाते हैं, संकटों का जहां लेशमात्र भी नाम नहीं है- ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप यह आत्मतत्त्व प्रत्याख्यानमय इस शुद्ध भाव में मिलेगा।

शुभाशुभवनी में आत्मतत्त्व का अमिलन- यह जो आत्मतत्त्व मिल नहीं रहा है, इसका कारण है कि शुभ-अशुभ भावों के बनने में हम घूम रहे हैं, भटक रहे हैं और वहां इस आनन्दनिधि को खोज रहे हैं। जब तक शुभ-अशुभ भावों का संवर न होगा, तब तक आत्मप्रभु से मिलना नहीं हो सकता। यह आत्मतत्त्व शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, रागद्वेष भाव से विविक्त है। यह आत्मतत्त्व कहां देखा जाएगा? यह शुभ-अशुभ भावों के संवर में ही मिलता है। ऐसा यह पापरूप जंगल को भस्म करने के लिए प्रचण्ड तेजोमय साधु विचार कर रहा है कि मेरा आत्मतत्त्व इस शुभ-अशुभरूप जंगल में न मिलेगा। यह तो शुभ-अशुभ भावों से अत्यन्त विविक्त निज चैतन्यस्वरूप में गुप्त है, तिरोहित है, सुरक्षित है।

गुप्तअन्तस्तत्त्व का गुप्त निरीक्षण- भैया ! गुप्त वस्तु का परिचय मेरे आंतरिक ज्ञान से ही हुआ करता है। यदि दुश्मनों को वह वस्तु विदित हो जाय तो गुप्त कहां रहा? गुप्त केवल अपने हितकारी जनों को ही विदित नहीं रहता है, बैरियों को विदित नहीं रहता। यह गुप्त अंतस्तत्त्व शुभ अशुभ भाव में विदित नहीं हो सकता। ये रागद्वेषभाव इस चैतन्यस्वरूप के बैरी हैं। इन बैरियों को यदि विदित हो जाय तो फिर यह गुप्त कैसे रहे? यह स्वरूप में गुप्त है बैरियों के अगम्य है, किन्तु हितकारी भाव जो ज्ञान दर्शन है वह इस ज्ञान दर्शन की परिणतियों के द्वारा ही गम्य है। ऐसे गुप्तस्वरूप में गुप्त हुए साधुजन चिंतन कर रहे हैं। ये साधु पुरुष परम वैराग्यरूपी महल शिखर की तरह हैं अर्थात् परम वैराग्य से भरे हुए हैं अथवा शिखर में लगे हुए कलश की तरह, जैसे वह महल के ऊपर विराजमान है शोभित है। इसी प्रकार ये

साधु पुरुष वैराग्यमय आत्मा में विराजमान हैं, शोभित हैं। ऐसा यह परम उदासीन अंतस्व का परमरुचिया ज्ञानी संत चिंतन कर रहा है कि मेरा आत्मा शुभ अशुभ भावों के संवर भाव में मिलेगा और वह इस शुद्ध चैतन्यस्वरूप का उपयोग करके शुभ अशुभ भावों का संवरण करता है। जब भी हो जाय संवरण अर्थात् यह उपयोग शुभ अशुभ उपयोग का ग्रहण न करके केवल निज सहज शुद्ध स्वभाव का ग्रहण करे तो यह आत्मतत्त्व दृष्ट होता है।

प्रत्याख्यानमय स्वभाव में विश्रामस्थान का निर्णय- भैया ! कोई किसी चीज का त्याग करे, किसी जगह से हटे तो कहां बैठना है? वह स्थान पहिले निर्णीत कर लेता है। जैसे ज्ञानी पुरुष को इन रागद्वेष आदिक समस्त विभावों से हटने का संकल्प होता है, तो वह किस जगह बैठे, कैसे अपने को रोके, कहां विश्राम करे, वह स्थान इस ज्ञानी ने पहिले ही तलाश लिया है, उस ही स्थान का यह विवरण चल रहा है। वह कौनसा स्थान है जहां यह आत्मा विश्रामपूर्वक रह सके? यह परमब्रह्म परमात्मा चूँकि सनातन शुद्धज्ञान स्वभाव वाला है इस कारण वह इस शुद्ध ज्ञानस्वभाव में ही ठहरता है। यह कैसे ज्ञानी के उपयोग में ठहरता है? जिस ज्ञानी के उपयोग में ठहरता है वह ज्ञानी हमारा परम आराध्य साधु परमेष्ठी है। ज्ञानी श्रावक ऐसे ब्रह्मलीन साधुवों की उपासना में रहा करता है। साधु अशुभोपयोग से पराङ्.मुख है। देखिये हम जिसकी शरण में जायें वह स्वयं अशरण हो, स्वयं शुभोपयोग से दु:खी हो तो हमें शरण कहां मिल सकती है? इस अशुभोपयोग के सताये हुए बाह्य पदार्थों में आनन्द और ज्ञान की तलाश करने के कारण विह्वल हुए प्राणी ऐसे ही विह्वल पुरुष के पास जायें, चाहें वह श्रावक अवस्था में हों, चाहे वह साधु भेष में हों, वहां पहुंचने पर शरण क्या मिल सकता है? शरण लेने वाला भी ज्ञानी चाहिए और जिसका शरण लिया जाय वह भी ज्ञानी चाहिए तब शरण का बनना सम्भव है।

परमागमगन्धभ्रमर- यह साधु पुरुष अशुभोपयोग से विमुख शुभोपयोग में भी उदासीन सहज बना हुआ है। वह तो साक्षात् शुद्धोपयोग के अभिमुख है। जो शुद्धोपयोग के अभिमुख हैं वे उपयोग गुण में भी यथापद बढेंगे जिनसे उनका उपयोग स्वयं उनके लिए शरण हो जायेगा। ऐसा साक्षात् शुद्धोपयोग में जो अभिमुख हैं, जो परमागम तत्त्वज्ञान के मर्मरूप गन्ध को सेवने में भँवरे की तरह आसक्त हैं, जिनका विषय एक तत्त्वज्ञान है। जैसे मोही उन पंचेन्द्रिय के विषयों में रत होकर प्रसन्न होना चाहते हैं। न प्रसन्न हो सकें लेकिन वे यत्न करते हैं। ऐसे ही ये साधुजनपरमागम तत्त्वज्ञान के मर्म को जानने में उग्र तत्त्वज्ञान विषय के सेवने में ही प्रसन्न रहा करते हैं। प्रसन्नता का अर्थ निर्मलता है। वह तालाब प्रसन्न है अर्थात् निर्मल है। शब्द की व्युत्पत्ति से प्रसन्नता का अर्थ निर्मलता है। चूँकि जो निर्मल रहा करता है वही आनन्दमय रह सकता है। इस कारण लोक में आनन्द का ही नाम प्रसन्नता रख लिया है। प्रसन्नता का अर्थ आनन्द नहीं है। निर्मलता और आनन्द का अधिक अविनाभावी सम्बन्ध है इस कारण प्रसन्नता का अर्थ लोक में आनन्द प्रसिद्ध हो गया है। ये साधु परमेष्ठी तत्त्वज्ञान के मर्म के ग्रहण करने में ही सदा प्रसन्न रहा करते हैं।

गुप्त का अमंत्रों को अपरिचय- ज्ञानी संत जानते है कि मेरा स्वरूप मुझमें गुप्त है। गुप्त स्वरूप का पता मेरे हितकारी ज्ञान, दर्शन चैतन्यगुण को ही है, रागद्वेष शुभ अशुभ भाव पुण्य पाप सुख दु:ख विकार इनको इस गुप्त तत्त्व का परिचय नहीं है। ऐसा अत्यन्त सुरक्षित यह मेरा परमात्मा, ज्ञायकस्वरूप आत्मा सनातन होने के कारण सदा मेरे

स्वरूप में ही विराजमान् रहता है। यह अंतस्तत्त्व कहीं बाहर नहीं मिला करता है। सब लोग आनन्द चाहते हैं और उस आनन्द की प्राप्ति का विकट यत्न किया करते हैं, किन्तु यह आनन्द बाह्य यत्नों से प्राप्त नहीं हो सकता है। यह तो अन्तर्दृष्टि से ही प्राप्त होगा।

मोह बैरी का आक्रमण- भैया ! स्वयं ही तो आनन्दस्वरूप है यह, किन्तु आनन्दमग्न नहीं रह सकता है। यही तो मोह बैरी का आक्रमण है। यह जीव उस मोह बैरी को ही बसाये रहता है और वह मोह बैरी इसे निरन्तर बेचेन बनाये रहता है। इसके लिए मोह के साधन ही सब कुछ बन रहे हैं। इसे अपने आपकी सुध नहीं है। आज पुण्योदय से जो कुछ भी प्राप्त किया है, शरीर पाया है तो इसे भी मोह के साधन में ही व्यय किया जाता है। धन पाया है तो इसे भी और मन पाया है तो इसे भी मोह के साधनों के लिए ही लगाया जाता है, बल्कि व्यामोही प्राणी यह निर्णय किए हुए हैं कि धन तो इसीलिए है कि मोह के साधनों को प्रसन्न किया जाय और उन्हें अच्छा बनाया जाय। यह मोह ही एकमात्र हमारा बैरी है। जो चीज मेरी नहीं है उसको समझना कि यही मेरे सब कुछ हैं, इस संकल्प से बढ़कर मेरा दुश्मन कोई दूसरा नहीं है। इस मोह बैरी की इतनी गहन चोट सहते चले जा रहे हैं और उस मोह बैरी को ही अपने आत्मक्षेत्र में खूब स्थान दिया जा रहा है। तुम रहो खूब जिन्दगी भर, जहां चाहे विराजो तुम्हारा तो यह घर है, ऐसे इस मोह बैरी को पूरे तौर से आमंत्रण दिये हुए हैं। जब तक इस मोह बैरी से मुक्ति नहीं होती तब तक आत्मा का आनन्दभाव का परिचय नहीं हो सकता है।

आत्मपद- मेरा आत्मा कहां विराज रहा है? इस विवरण में इस गाथा में यह बताया है कि मेरा आत्मा मेरे ज्ञानभाव में है। जो ज्ञानस्वरूप है वह ही तो आत्मा है। मेरा आत्मा दर्शन और चारित्रमय है। जो सहज चारित्र है, सहजदर्शन है, सम्यग्दर्शन का विषय है वह ही तो मैं आत्मा हूं। यह आत्मा समस्त परभावों के संन्यासस्वरूप निश्चय प्रत्याख्यान में सन्निहित है। यह प्रत्याख्यान स्वरूप स्वयं सहज ज्ञानभावमय है। यह मैं आत्मा शुभ अशुभ भावों के संवरभाव में मौजूद हूं। शुभ अशुभभावों का निरावरण स्वरूप जो निज सहज ज्ञानभाव है, उसमें यह आत्मा हूं। यह मैं आत्मा शुद्धोपयोगमय हूं। स्वत:सिद्ध सहज शुद्ध चैतन्यभावमय उपयोग हूं, तन्मात्र ही मैं हूं, ऐसा अपना श्रद्धान रखूँ और ऐसी ही प्रतीति और ज्ञप्ति करूँ तो वहां यह मेरा परमात्मा स्थित है, यह विशद ज्ञात होता है। जिस भाव में यह अपना आत्मा दर्शन दिया करता है वह भाव ही परमकल्याणरूप है। इस कारण इसका एक निर्णय रखना चाहिए कि सबसे हटकर इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप में हमें लगना है।

परम ज्ञान- व्यवहार प्रत्याख्यान अर्थात् बाह्य परिग्रहों का त्याग, संयम की विरोधकों का त्याग, ये सब प्रत्याख्यान निश्चयप्रत्याख्यान के लिए होते हैं अर्थात् सर्व परभावों से विविक्त केवल ज्ञायकस्वरूप निज अंतस्तत्त्व के अनुभव के लिए होता है। इस प्रत्याख्यान का जो विषय है अर्थात् निश्चयप्रत्याख्यान में जिस परमार्थ तत्त्व की ओर दृष्टि रहती है वही परम एक ज्ञान है। लोक में अनेक पदार्थों का ज्ञान करते जाइए, उससे क्या सिद्धि है? एक इस निज ज्ञानस्वभाव का ज्ञान न कर पाया तो संतोष तो न पा सकोगे। अपने ज्ञानस्वरूप से बाह्य में अपने ज्ञान का उपयोग किया जाय तो वहां नियम से तृष्णा बढ़ती है, संतोष नहीं हो सकता है।

बाह्य में शान्ति का अभाव- अच्छा, कल्पना कर लो कि कहां-कहां अपनी लिप्सा हो, यत्न हो, ज्ञान हो? उन सबको कल्पना में ले लो। धन के विषय में लखपति हो, करोड़पति हो, अरबपति हो, बड़े महल हों, बड़ी सवारियां हों, फौज-फाड़ा भी हो, इतना बड़ा वैभव भी हो तो भी शांति का स्थान वहां हो, यह कैसे हो सकता है? क्योंकि जिस उपयोग का विषय परपदार्थ लग रहे हैं तो परपदार्थों का विषय करके जो ज्ञान बना है अर्थात् कल्पना बनी है, उस कल्पना का स्वरूप ही आकुलता है। शांति कैसे हो सकती है?

इज्जत में शान्ति का अभाव- इज्जत के बारे में कल्पना कर लो कि लोग मुझे नगर में जान जायें, जिले में जान जायें अथवा प्रान्त में, राष्ट्र में, सारे विश्व में समझ जायें, पर जिसकी कल्पना इस तरह से विचारों से विश्वभर में अटकी हुई है, उस कल्पना से चैन कहां हो सकती है? जो जितनी बड़ी इज्जत बनाएगा, उसको अपनी इज्जत रखने के लिए नाना यत्न और कल्पनाएँ जारी रखनी पड़ेगी। इसी प्रकार जो जितना धन संचित करेगा, उसको उतना ही अधिक चिंतन उसकी रक्षा के लिए करना पड़ेगा। कदाचित् बहुत बड़ी आय होने के बाद धन नष्ट हो जाय तो उसकी पीड़ा वही जान सकता है। कोई बड़ी इज्जत पाने के बाद यदि इज्जत नष्ट हो जाती है तो उसकी पीड़ा को वही पुरुष भोगता है।

परम दर्शन- कहां बाहर में विश्राम का स्थान है, किसको उपयोग में बसाया जाए? केवल विश्राम का साधन यह शुद्ध सहज जाननवृत्ति है। जहां कल्पना-तरंगे नहीं उठती हैं, केवल शांत विशाल सागर की तरह गम्भीर एक प्रतिभाससामान्य रहता है, वह स्थिति परम विश्राम की स्थिति है। मेरा ज्ञान ही परम ज्ञान है। बाहर में कहां किसको निरखने जायें? कौनसा पदार्थ ऐसा है, जो दर्शनीय हो, जिसको देखने से हमारी सब बाधाएँ दूर हों, सर्वसमृद्धियां हों? कोई ऐसा ज्ञान आंखों से दिखने वाला है क्या, जिसको देखकर हम कृतकृत्य हो जायें? कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है। कदाचित् साक्षात् अरहंतदेव भी दर्शन को मिलें तो भी वहां जब तक इन चर्मचक्षुवों का ही उपयोग रहेगा, वहां निरखने में मर्मभूत उनका उत्कृष्ट वैभव, उनका चमत्कार, उनकी प्रभुता दिखने में नहीं आ सकती। वहां भी एक इस अन्तर्दृष्टि के बल से ही उनकी प्रभुता का दर्शन होगा और जिसका दर्शन करके वे प्रभु बने हैं, उसका दर्शन तो एक अलौकिक दर्शन है और अलौकिक परमार्थ चैतन्यस्वरूप के दर्शन में ही वास्तविक प्रत्याख्यान होता हैं।

परम आचरण- कौनसा काम ऐसा करने के योग्य है, कौनसा आचरण है, जिस आचरण के कर लेने पर फिर कोई कमी न रह सके, कोई आगे के लिए करने का प्रोग्राम न रह सके? है कोई क्या ऐसा आचरण? पाप के आचरण तो दु:ख के हेतुभूत हैं, उनसे तो विश्राम कभी मिल ही नहीं सकता है; किन्तु बाह्यव्रतों के आचरण में भी करने को एक न एक काम पड़ा है। वह करना ही क्या है, जिसके बाद कुछ करने को बाकी रहे? करना तो वही उत्तम है, जिसके बाद करना कुछ बाकी न रहे। इन बाह्य समस्त प्रवृत्तियों में व्रतों की प्रवृत्तियां भी करने को पड़ी हुई बनी रहती हैं। सोध-बीनकर चले, सोध-बीनकर खाये, बड़े अच्छे प्रेम के वचन बोले और और भी बाह्य संयम किया। इनके करने के बाद फिर कुछ करना रहता है या नहीं? अरे, रोज-रोज करने को रहता है। बाह्य चारित्र तो उस चारित्र के लिए है, जिस चारित्र में फिर कुछ करना बाकी नहीं रहता है। उस चारित्र की तो खबर न हो और बाह्य चारित्र में ही अपनी वृत्ति दृष्टि

फंसाए रहे तो संतोष वहां भी नहीं मिल सकता है। वह अन्त: चारित्र है एक परमज्ञानस्वभाव का दर्शन ज्ञातादृष्टा रहने की निश्चल स्थिति। इसी में प्रत्याख्यान की परिसमाप्ति होती है।

परम तप- यहां एक विशुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र है। जो पुरुष इस ज्ञानस्वभाव को अपने उपयोग में बसाए रहता है, तपाये रहता है, वह पुरूष इस परमार्थ तप के प्रसाद से अलौकिक समृद्धि पा लेता है। हमारा ज्ञान हमारे ज्ञानस्वभाव के ज्ञान में ही बना रहे, इसे परम तप कहते हैं। इसमें अभ्यासी जनों को भी घबड़ाहट होती है। अज्ञानी जन तो उसके निकट पहुंचने का साहस नहीं कर पाते हैं। ऐसा परमार्थभूत परम तप क्या है? यह ज्ञानस्वभाव परमपारिणामिक भाव है, ज्ञायकस्वरूप कारणब्रह्म कारणसमयसार है, इसका अवलम्बन होने पर निश्चय प्रत्याख्यान बनता है।

परम वन्दनीय- लोक में सर्वश्रेष्ठ निरन्तर वन्दन करने के योग्य, नमस्कार करने के योग्य एक यह परम ब्रह्मस्वभाव है। योगीजन सब कुछ त्याग करके निर्जन वन में निरन्तर प्रसन्न मुद्रा से युक्त अन्त:कांति सम्पन्न रहते हैं। वे किसके अवलम्बन से रहते हैं? वह परमार्थभूत ध्रुव निजस्वभाव के दर्शन का अवलम्बन है।

महत्त्व का परमस्थान- सब जगह जावो और बड़ा देखो, अन्त में बड़ा अपने आपमें मिलेगा। जैसे धर्म में बड़ा देखने चलो तो ऐसा लगेगा कि हमारे ये श्रावकजन, व्रतीजन, ब्रह्मचारीजन बड़े हैं और आगे दृष्टि की तो ये साधुजन जो ज्ञान, ध्यान, तपस्या में ही सदा लीन रहते हैं, ये हैं लोक में बड़े। उनके बाद दृष्टि गई तो दिखे अरहंत भगवान्, जो बड़े विश्वज्ञ हैं सर्वदर्शी हैं। और अधिक दृष्टि गई तो जिसके शरीर का भी अभाव है, समस्त कर्मों का भी अभाव है- ऐसे सिद्धप्रभु, लो ये हैं बड़े। पर सिद्धप्रभु का बड़प्पन सोचते-सोचते, परमार्थ पद्धति से उनके अन्तरंग वैभव को निरखते-निरखते वह दृष्टि वहीं उनके स्वभाव में लीन हो जाती है, क्योंकि उनके स्वभाव में और स्वभाव विकास में अन्तर नहीं मालूम पड़ता है, एक हो गया है और जब स्वभाव में इस भक्त की दृष्टि पहुंचती है तो वहां पररूपता नहीं रहती है कि मैं किस परदेव की भक्ति कर रहा हूं- ऐसी पर की ओर दृष्टि नहीं रहती है, किन्तु वह दृष्टि अपने ही स्वभाव को परखती हुई विलास करती है। उस समय जो एक अलौकिक अनुपम आनन्द प्रकट होता है, उसके अनुभव के बाद इसे पता पड़ता है कि मैं कहां बड़ा ढूंढने चला गया था। वह बड़ा तो वहां मुझमें 'मैं' ही मिला। मैं किसी को ढूंढ भी नहीं सकता, जान भी नहीं सकता। जो कुछ किया करता हूं, अपने प्रदेशों में रहकर अपने आपमें ही परिणति किया करता हूं।

परम मंगल- नमस्कार के योग्य सर्वप्रकार वन्दनीय यह आत्मब्रह्म है, कारणसमयसार है, चैतन्यस्वभाव है, इसी स्वभाव के अवलम्बन के प्रसाद से सर्वमंगल होता है। लौकिक जन बाहरी पदार्थों में मंगल समझते हैं। परिवार अच्छा हुआ, सन्तान हो गई, धन बढ़ गया, कुछ मोहियों में इज्जत कर ली तो उसको ही समझते हैं कि मेरे सब मंगल कार्य हो रहे हैं, पर वे सब निरन्तर अमंगलपने से भरे हुए हैं। उनमें रहते हुए प्रथम तो जो अपना उपयोग अपने प्रभु से जुदा-जुदा हो रहा है, बाहर में आकर्षण हो रहा है- यह एक बड़ी विपदा है। मंगल कार्य बाहर नहीं है। वह मेरा मंगल कार्य मेरे स्वभाव में ही व्यक्त है।

परम उत्तम- लोक में उत्तम कौन है? खूब परख करके देख लीजिए। किसको हम अपना मानकर अपना सर्वस्व समर्पण करें? किससे हम प्रीति लगाए रहें, जो मेरे हित में कारण हो? कौन है ऐसा उत्तम? कोई बाहर में शरण न मिलेगा, कोई अपने लिए आदर्श न मिलेगा। सर्वोत्तम एक अपना आत्मा ही है। इस परमपारिणामिक भावरूप चैतन्यतत्त्व का आलम्बन लेने वाला पुरुष किसी भी प्रकार के संकट में नहीं आ सकता। मेरी दृष्टि, मेरा उपयोग, मेरे स्वयं संकटरहित स्वभाव में पड़ा हुआ हो तो सर्वोत्तम मेरा 'मैं' ही हुआ। तब मैं अपने उत्तम को ढंग से देखूं। यों तो जिसको 'मैं' मानकर व्यामोही जन गर्व कर रहे हैं, वे तो अमंगल हैं, अकल्याणक हैं, उत्तम नहीं हैं। उत्तम मेरा यह ज्ञायकस्वरूप है, जिस स्वरूप के उपयोग में यह निश्चयप्रत्याख्यान सहज होता है। जिसके प्रसाद से मुक्तिसाम्राज्य प्राप्त होता है।

शरण की खोज- लोक में बाहर कहां शरण ढूंढने चलें, जो मेरे समस्त संकटों को दूर कर दे और शरण हो। बचपन में बच्चे ने अपनी मां को शरण माना। जब कभी कोई संकट आता तो झट मां की गोद में जाकर छिप जाता और मां की गोद से लिपटकर दोनों आंखें बन्द करके शांति का अनुभव करता है। अब मुझे क्या संकट है? मैं अपनी शरण में आ गया हूं। लेकिन जब कुछ बड़ा होता है, तब उसे शरण खेल खिलौनों में दिखने लगती है। खेल खेलने में ही वह अपना मन लगाता है। अब उसे मां की गोद न चाहिए, पर खेल खेलते रहना चाहिए। वह खेल खिलौनों से ही अपना शरण मानने लगता है। जब और कुछ बड़ा हुआ तो उसके लिए पिता शरण बन गया। कुछ संकट आया तो झट पिता की शरण रहता है। और बड़ा हुआ, किशोर बन गया तो उसको अपनी शरण अपनी स्त्री दिखती है। कुछ झंझट हुआ, कुछ दिमाग की परेशानी हुई तो स्त्री से थोडी बातें कर ली, तो परेशानी मिट गई। सर्वप्रकार से उसने स्त्री को शरण माना है, लेकिन कुछ समय के बाद स्त्री में भी चित्त नहीं रमता है, वहां भी इसके उपयोग को शरण नहीं मिलता है। अब तो संतान के बच्चों के स्वप्न देखा करता है, अब मन को रमाने वाला तो वही पुत्र होगा। अन्त में चलते जावो, अब धन से उसने अपनी शरण मानी, अब उसे किसी की परवाह नहीं है, जितनी कि धन की परवाह है। धन जुड़ना चाहिए, कैसे भी जुड़े। इसके बाद इज्जत की परवाह है। सब कुछ शरण ढूंढ चुकने के बाद भी इसको कहीं शांति नहीं मिलती है।

परम शरण- सबको अपना शरण मानो, लेकिन कदाचित् सौभाग्य हो, सुभवितव्य हो तो सत्संगति मिले, ज्ञानाभ्यास कस साधन मिले, कुछ ज्ञान आए, कुछ यथार्थ स्वरूप नजर में आए, कुछ वैराग्य जगे तो अब दृष्टि अपने निजस्वरूप की ओर आने लगेगी। सारी कुंजी तो मेरा स्वरूप है। चाहे हम जगत् में भटक लें और चाहे हम संकटों से बच लें, यह सब चाभी मेरे समीप ही है। संकट और आनन्द समृद्धि दोनों ही अपनी कला पर निर्भर हैं। दूसरी कोई चाभी नहीं है, जो मेरे सुख-दु:ख को उत्पन्न करे। जो लोग ईश्वर को सब कुछ कर्ताधर्ता मानते हैं, उन्हें भी अपनी करनी, अपनी भरनी का सिद्धान्त मानना पड़ता है। जब यह प्रश्न होता है कि कोई मनुष्य पाप करे तो करने दो ईश्वर तो दयालु स्वभाव का होना चाहिए, वह तो सबको सदा सुखी ही करता रहे। क्यों दु:ख देता है। उसके कर्मों के खिलाफ ईश्वर कुछ भी नहीं कर पाता है। अत: मूल निचोड़ यहां यही तो निकला कि जैसी जो अपनी कला खेलेगा, उसके अनुसार

ही उसका भवितव्य आगे आएगा। आनन्द चाहते हो तो अपना शरण जो अपने आपमें बसा हुआ है, उसकी दृष्टि करें, उसका आलम्बन लें।

संकट मिटने का मूल उपाय- भैया ! हम इस निज शरण तत्त्व को भूलकर बाहरी बातों में पड़कर दु:खी रहा करते है। किसी भी जगह बैठे हों, जिस क्षण सर्वविविक्त ज्ञानप्रकाशमात्र निजतत्त्व की ओर दृष्टि जाएगी, उस ओर तो एक भी संकट नहीं रहने का है। यह जीव संकट मानता है। हमारे मन के अनुकूल परपदार्थ नहीं परिणमे, इसका इच्छानुकूल पर परिणमन न होने की कल्पना के सिवाय अन्य कोई संकट नहीं है। जगत् के ये सब पदार्थ हैं, अपनी सत्ता से हैं। यों परिणमते हैं तो यों परिणमे और प्रकार परिणमे तो और प्रकार परिणमे। उन सबका तो मुझमें अत्यन्ताभाव है ना, लेकिन यह अज्ञानी जीव मन के अनुकूल दूसरे पदार्थों का परिणमन देखना चाहता है। कष्ट एक भी दूसरा नहीं है। यह कष्ट ज्ञान से ही मिट सकता है और दूसरा उपाय नहीं है। धन वैभव बढ़ता जाएगा तो क्या कष्ट कम हो जाएगा? परपदार्थों में मन के अनुकूल परिणमन हो जाने से प्रतिष्ठा हो जाएगी तो क्या कष्ट मिट जाएगा? अरे! कष्ट तो मिटेगा पर में मन के अनुकूल परिणमन देखने की वांछा न रहने में। यह तब ही हो सकता है, जबकि वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो। इस प्रकार शरण ज्ञानियों का एक यह परम ब्रह्म स्वरूप है।

चित्स्वभाव के आश्रय में सर्व परमकृत्यों की पूर्ति- भैया ! यथार्थ तत्त्व का ज्ञान किये रहने के सिवाय आचरण ही क्या करना है? ज्ञान का ज्ञानरूप आचरण बना रहे, यही एक शुद्ध आचरण है। अन्य और कुछ आवश्यक काम और क्या पड़ा हुआ है, जिसके किए बिना गुजारा न हो, जिसके करने से ही आत्मा को शान्ति मिले? ऐसा आवश्यक काम एक निजस्वभाव का ज्ञान ही है, दूसरा नहीं है। प्रमादरहित होकर एक इस ज्ञानयोग की उपासना रहे, यही वास्तविक स्व का अध्याय है। स्वाध्याय करके अवश्य शान्ति होगी, पर बाहर दृष्टि गड़ाकर कुछ ज्ञान का विस्तार बनाया तो वह स्वाध्याय नहीं है, किन्तु जिस किसी विषय को पढ़ना हो, उसमें इस ज्ञानमात्र स्व का अध्ययन चले, चिंतन चले, मनन चले, वह है स्वाध्याय। इस तरह यह कांति, तेज, धन, वैभव, समृद्धि सब कुछ मेरा आत्मस्वभाव ही है। इस आत्मस्वभाव की आराधना से निश्चयप्रत्याख्यान होता है।

आत्मवस्तु की दर्शनज्ञानचारित्रात्मकता- प्रत्याख्यानस्वरूप धर्म परमार्थभूत परमब्रह्म मेरे इस सहज दर्शनस्वभाव में है- एक तो दर्शन की वृत्ति और एक दर्शन का स्वभाव। दर्शनस्वभाव की स्वभाववृत्ति द्वारा दर्शनस्वभाव में यह परब्रह्म दृष्ट होता है। यह निज परमार्थब्रह्म शुद्ध ज्ञानस्वभाव में विदित होता है। एक तो ज्ञान की वृत्ति, जिसे जानना कहते हैं, हम जान रहे हैं। इसको जाना, उसको जाना, पर यह जानन परिणमन जिस शक्ति से उठ रहा है, उस शक्ति का नाम है परमब्रह्म। उस ज्ञानस्वभाव में यह मेरा आत्मा विदित होता है। यह मैं आत्मा उपयोग मात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं। यह उपयोग मेरे ज्ञानस्वरूप में ही अविचलरूप से रह सके तो मैं परिचित हो सकता हूं। यदि यह उपयोग मेरे मूल को छोड़कर बाहरी पदार्थों की ओर अभिमुख होता है तो वहां मेरा आत्मा कैसे मुझे परिचित हो सकता है? यह आत्मतत्त्व सहज चारित्रस्वभाव में है। उपयोग का उपयोग में स्थिर होना- यह तो है वृत्ति और यह स्थिरता जिस शक्ति के कारण होती है, उस शक्ति को कहते हैं चारित्रस्वभाव। यह आत्मतत्त्व दर्शन ज्ञान चारित्रस्वभावात्मक है।

सर्वजीवों में त्रितयात्मकता का समर्थन- जैसे मोटेरूप से यह परिचय में आता है कि यह जीव कुछ न कुछ ज्ञान करेगा ही और किसी न किसी स्थान में रमेगा भी। इस जीव में तीन स्वभाव पड़े हैं- विश्वास करना, जानना और रमना। कोई भी प्राणी ऐसा बतावो, जो इन तीन रूप न हो। कीड़ा-मकोड़ा हो, मनुष्य-पशु हो, ज्ञानी-अज्ञानी हो- प्रत्येक जीव में ये तीन स्वभाव पड़े हुए हैं। ये सभी जीव कुछ न कुछ विश्वास किए हुए हैं। अज्ञानी जीव अपने आपके सम्बन्ध में अपना अलग विश्वास लिए हुए हैं। मैं अमुक चन्द हूं, अमुक प्रसाद हूं, अमुक पोजीशन का हूं, कुटुम्ब वाला हूं आदिकरूप अपना विश्वास बनाए हुए है, किन्तु ज्ञानी मैं केवल चैतन्यस्वरूप हूं, सर्वपदार्थों से विविक्त हूं- इस तरह का विश्वास बनाए हुए हैं। कीड़ा-मकोड़ा भी अपनी पर्यायरूप अपनी प्रतीति में अपना विश्वास बनाए हुए हैं और ये पेड़, जमीन, पानी आदि एकेन्द्रिय जीव भी अपने आपमें विश्वास बनाए हुए हैं। कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो अपना कुछ विश्वास न रखता हो।

परमार्थविश्वास में निश्चयप्रत्याख्यान- जोपुरुषइस विश्वास कीशक्तिरूप जोश्रद्धागुण है, तदात्मक अपनी प्रतीति करता है, वह निश्चयप्रत्याख्यान का अधिकारी है। मुझे त्यागना है। क्या त्यागना है? इन सबका बाह्यपदार्थों को, ये समस्त रागद्वेषादिक विचार, वितर्क, विकल्प, कल्पनाएँ- इन सबको त्यागना है, किसे त्यागना है? इनका त्याग करके भी क्या कुछ त्याग करने वाला भी बचा रहता है? यह प्रतीति जिसके नहीं है, इन सब पदार्थों से विविक्त जो स्वभावमात्र मैं विशुद्ध तत्त्व हूं- ऐसा जिसके विश्वास नहीं है, वह क्या प्रत्याख्यान करेगा? उसकी वृत्ति तो केवल बाह्यक्रियारूप ही रहेगी।

त्याज्य के त्याग का विश्वास ज्ञान आचरण- प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। हमें त्याग करना है। जिस चीज का त्याग करना है, उससे न्यारा विशुद्ध मूल में कौन है? यह प्रतीति में न हो तो त्याग करना बेकार है। किसका त्याग कर रहे हैं? बाह्यपदार्थ में तो अपने आप छूटे हुए हैं। कोई पदार्थ मेरे जीव में लिपटा हुआ नहीं है। मकान हो, वैभव हो, धन हो, परिजन हों- सब पृथक् है, स्वतन्त्र हैं, उनका मुझमें कोई सम्बन्ध नहीं है। ये बाह्यपदार्थ तो स्वयं ही छूटे हुए हैं। इन बाह्यपदार्थों के सम्बन्ध में जो ममता-परिणाम किए है, वह इस समय मुझमें है। अत: जो मुझमें आया है और छोड़ा जा सकता है, उसे त्यागना चाहिए। यह विकल्प, यह ममत्व, यह अहंकार, यह मिथ्याप्रतीति- इनका त्याग किया जाना चाहिए। बाह्यपदार्थ तो छूटे हुए ही हैं। इस वैभव का त्याग तो तभी किया जा सकता है, जब यह श्रद्धा हो कि इस वैभव से रहित कुछ मेरा ध्रुवस्वरूप है। ऐसी श्रद्धा बिना त्याग नहीं हो सकता है। इस कारणप्रत्याख्यान स्वरूप ही मैं स्वयं हूं। यह मैं शुभ, अशुभ, सुख, दु:ख, पुण्य, पापों से भी अलग हूं, इनको तो कुबुद्धिवश अपनाया है, स्वभाव से बाहर अपनाया है, इस रूप मैं नहीं हूं- ऐसा विश्वास हो, वहां निश्चयप्रत्याख्यान होता है। ऐसा ज्ञान और ऐसा ही आचरण हो, वहां यह प्रत्याख्यान है।

आत्मा में परमात्ममिलन- यह परमात्मा कहां मिलेगा? किसी पर्वत पर, किसी मूर्ति में, किसी प्रतिमा में, किसी योगी में, कहीं देखो यह परमात्मा अन्यत्र कही नहीं मिल सकता। साक्षात् भी कोई परमात्मा सामने हो तो भी परमात्मा बाहर न मिलेगा। हम उस पद्धति से अपने आपकी पहिचान करें तो परमात्मस्वरूप का दर्शन होगा। इस ज्ञानी संत ने अपने

आपके स्वरूप को चैतन्यमात्र निर्णीत किया है, इसका काम केवल चेतने का है- सामान्यरूप से चेते अथवा विशेषरूप से चेते। यह चैतन्यतत्त्व चेतने के सिवाय अन्य कुछ नहीं करता है। ऐसा जिस ज्ञानी सन्त ने अपने निर्णय में आत्मतत्त्व लिया है, वह समस्त सुकृत और दुष्कृत, पुण्य अथवा पाप, शुभ अथवा अशुभ सर्वद्रव्यों का भी परित्याग कर देता है।

शान्ति अशान्ति का स्थान- भैया ! जैसे मनुष्य को दु:ख में चैन नहीं है, ऐसे ही सुख में भी चैन नहीं है। जैसे विपत्ति में शान्ति नहीं है, ऐसे ही सम्पत्ति में भी शान्ति नहीं है और इसी प्रकार अच्छे परिणाम करने में भी शान्ति नहीं है और बुरे परिणाम करने में भी शान्ति नहीं है, किन्तु अच्छे और बुरे- इन दोनों परिणामों से परे जो सर्वविशुद्ध है- ऐसा जो शुद्ध चित्प्रकाशमात्र परिणमन है, वहां ही दृष्टि जाए तो शान्ति प्राप्त होती है। अज्ञानीजन भिन्न पदार्थों में मोह-राग होने के कारण उनमें मेरा-मेरा करते हैं। यह मेरा मित्र है, यह मेरा भाई है, ये मेरे वस्त्र हैं- इन बाह्यपदार्थों में मेरा-मेरा कहता है, जिन पदार्थों से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। इसी मिथ्याव्यामोह में यह दु:खी हो रहा है।

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध- अब परमात्मा और आत्मा का सम्बन्धनिरखिये। जो आत्मा परम हो गया है, उत्कृष्ट हो गया है, उसमें जो स्वभाव है, वह स्वभाव मुझमें है, यह है एक बात। दूसरी बात यह है कि जब मैं अपने स्वभाव का आलम्बन लेकर अपने आपको सुदृढ़रूप से तक सकता हूं, तब मुझे परमात्मा का भी दर्शन होता है; इस कारण से परमात्मा का मुझसे कितना निकट सम्बन्ध है? तीसरी बात यह है कि वह परमात्मस्वभावरूप ही तो मैं हूं। इन सब कारणों से यह ज्ञानी संत उस परमात्मा में यों सम्वेदन करता है कि यह मेरा परमात्मा है। यह मेरा परमात्मा कहां मिलेगा? ये शुभ-अशुभ भाव रुक जायें- ऐसे निर्दोष संवरस्वरूप ज्ञानप्रकाश में मेरा परमात्मा मिलता है। यह है उस शुद्ध तत्त्व का उपयोग। मैं अपने आपको सहजसिद्ध, स्वत:सिद्ध, स्वरूपसिद्ध मात्र ज्ञानप्रकाश को ही निरखूँ और ऐसा ही आग्रह करके रह जाऊँ। मैं ज्ञानमात्र हूं। अत: इस शुद्धोपयोग में यह आत्मपदार्थ परमात्मतत्त्व मिलता है। इस प्रभु के मिलन का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। जब तक इस प्रभु का मिलन नहीं होता, तब तक यह जीव अज्ञानी है। मिल गया लाखों का धन तो क्या मिल गया? कुछ शान्ति प्राप्त होती है क्या? मोहियों के वचनों में इज्जत मिल गई तो क्या मिल गई? सब बेकार हैं, सब मायास्वरूप हैं, स्वप्न की तरह हैं। इस आत्मतत्त्व में रमने वाले जीव ही ज्ञानी हैं, शान्ति के पात्र हैं। एक आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है कि कल्याण हो सके, शान्ति प्राप्त हो।

आत्मावबोध- यह मैं परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मपदार्थ गुणपर्यायात्मक हूं अर्थात् मा और या दोनों से युक्त हूं। जो दिखता है, वह नहीं है। जो आंखों से नहीं दिखता है, वह यह है। ऐसा यह मैं चैतन्यपदार्थ जब मैं पर्यायदृष्टि से इसे देखता हूं तो यह कहीं निर्मल दिखता है, कहीं मलिन दिखता है, कहीं कुछ निर्मल, कुछ मलिन दिखता है। यह तो स्वयं न निर्मल है, न मलिन है; किन्तु जैसा है, सो ही है अर्थात् शुद्ध स्वरूपमात्र है। यह प्रकाश अज्ञानियों को नहीं प्राप्त होता है। उन्हें ये सब समझ, ये सब वचन गहन वनजाल की तरह मालूम होते हैं। इसमें ज्ञानियों को तो केवल अपने मोह और राग के विषय की बातें ही समझ में आती हैं।

अज्ञानियों की गति और रुचि- एक बार एक बादशाह अपने राज्य में घूम रहा था। उसे शहर के अन्त में एक गड़रिये की लड़की दिखाई दी। भैया ! गरीब लोग शरीर से प्राय: पुष्ट होते हैं और शरीर की पुष्टता में ही सुन्दरता है। कोई

अच्छे कपड़े पहिन ले तो उससे शरीर में कोई विशेषता नहीं आ जाती। क्योंकि वह गडरिये की लड़की सुन्दर थी, अत: बादशाह को वह भा गई और फिर उसने उससे शादी कर ली। जब गड़रिये की लड़की राजमहल में आयी तो उसे एक बड़ा हाँल रहने के लिए दिया और दो-चार कमरे व्यवस्था के लिए दिये गए। जब वह हाँल में गई तो देखती है कि चारों तरफ खूब चित्रावली है- पुराने वीर पुरूषों की, कुछ भगवान की, कुछ राजा-महाराजाओं की। वह सबको एक ओर से देखती जा रही थी। उसे कोई भी चित्र नहीं सुहाया, कहीं भी उसका मन नहीं रमा। इस प्रकार देखते-देखते एक जगह चित्र में उसे बहुत सुन्दर बकरी और भेड़ का चित्र दिखाई दिया। उसको वह दो-चार मिनट तक एकटक सी देखती रही और फिर देखते-देखते बीच में टक टक करने लगी, जैसा कि बकरियों के लिए किया जाता है। अत: जिस प्रकार गड़रिये की लड़की का मन वीर पुरुष के, भगवान् के चित्रों में न टिका और बकरी भेड़ों में दिल रमा, इसी प्रकार अज्ञानी जीव का मन ज्ञान और वैराग्य में नहीं रमता, उन्हें तो भोगों के साधन चाहियें, उनमें ही वे रमेंगे।

अज्ञानियों द्वारा क्लेश और भोग का स्वागत- भोगों के साधन की दशा पशुओं की देखो ना। जो बछड़े फिरा करते हैं, वे किसी सागभाजी में मुँह लगा देते हैं तो सागभाजी वाला उसे डण्डों से मारता जाता है। वह बछड़ा पिटता भी जाता है और सागभाजी खाता जाता है। जिस प्रकार पशु भोग भोगते जाते हैं और मार खाते जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य इन्हीं समागमों के कारण दु:ख सहते जाते हैं और इन्हीं समागमों में मौज मानते जाते हैं। भले ही यह मनुष्य खाने में नहीं पीट रहा है, पर खाने का तो एक दृष्टान्त बताया है। भोग तो पांचों इन्द्रियों के हैं। पांचों इन्द्रियों के भोग को भोगता जाता है और उनके कारण जितने कष्ट, आपत्तियां आती हैं, उन्हें सहता जाता है। यह कष्ट सहना तो स्वीकार करता है, पर भोगों को नहीं छोड़ सकता है।

दृष्टि कर्णधार- यहां एक इस अपने शुद्ध स्वरूप की चर्चा चल रही है। इस आत्मब्रह्म को हम जब मायाभरी दृष्टि से देखते हैं, पर्यायदृष्टि से देखते हैं तो शुभ-अशुभ सब प्रकार के मायारूपमय नजर आते हैं और जब मायादृष्टि छोड़कर परमार्थदृष्टि ग्रहण करते हैं तो वहां यह सब जाल कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। क्या प्रतीत होता है? उसे शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता। कितनी ही बातें तो लौकिक पुरुष भी कहते हैं, पर उसका विवरण नहीं कर सकते। कोई कहे कि मुझे भूख लगी है। हम उससे पूछे कि कहां भूख लगी? जरा दिखा दो। देखें तो सही कि वह भूख कैसी है? किस ढंग की है? कहां से आती है? किस जगह रहती है? क्या कोई उसे बता सकता है? कहते सब हैं कि मुझे भूख लगी है। जैसे कहते हैं कि मुझे चोट लगी है, देखते हैं तो कहते हैं कि हां भाई, यहां चोट लगी। पर भूख कहां लगी, इसको कोई बता नहीं सकता, वह तो अनुभव की जाती है। ये मामूली सी बातें जो हमारे रोज के व्यवहार में हैं, उनका ही जब हम विवरण नहीं कर सकते तो इस परम ब्रह्मस्वरूप, जो एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश में नजर आ रहा है, अनुभव तो हो गया, पर उसे बताया नहीं जा सकता। उसमें कितनी शक्ति है, कितने गुण, कितने रत्न है? वे सब दिख गए; अनुभव में आ गए पर न गिने जा सकते हैं और न बताए जा सकते हैं।

ज्ञानियों का बलिष्ट हृदय- यह तत्त्व अज्ञानी पुरुष के लिए बड़ा कठिन, लेकिन वही तत्त्व सत् पुरुष के हृदय-कमल में विशद विराजमान् रहता है। ज्ञानी पुरुष को कहीं कष्ट नहीं है। जो समस्त परपदार्थों से पृथक् अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावमात्र अपने को लक्ष्य में लिए हुए है, मैं वह ही हूं। उसे कष्ट कहां? लोग कष्ट इसी में ही मानते हैं कि मकान गिर गया। अरे, मकान गिर गया तो गिर गया, मैं तो अपने ही स्वरूपमात्र हूं। इतना धन बरबाद हो गया, डाकू ने लूट लिया या किसी प्रकार का कोई बिगाड़ हो जाने से धन चला गया। अरे, धन चला गया तो चला गया। ज्ञानी पुरुष तो गृहस्थी में रहता हुआ भी अपने को केवल अमूर्त निजस्वरूपमात्र प्रतीति में रखता है और उसी का यह महान् बल है कि ऐसी भी कठिन विपदा आ जाय कि जिसे देखकर मोही जीव दु:खी होकर मरण ही कर जाय, पर ज्ञानी पुरुष में इतना बड़ा धैर्य होता है कि वह किसी भी परिस्थिति में अधीर नहीं बन सकता है। उसे यह बल किसने दिया? क्या किसी बाह्य समागम में ऐसी कला है कि जो ऐसा बल प्रदान कर दे? वह बल तो अपने ज्ञानस्वभाव की उपासना का है। शांति के लिए लोग बड़ी कोशिश करते हैं, कमायी करते हैं, पर शांति तो शांति के ही ढंग से मिलेगी। बाह्य पदार्थों की चिंता से, संचय से कभी शांति नहीं मिलेगी। यदि बाह्य पदार्थों में शांति होती तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती पुरुष भी इस सम्पदा को क्यों त्यागते? उस सम्पदा के त्यागने के बाद ही उन्हें शान्ति मिल सकी।

परम प्रकाश- ये सत् पुरूष, जिन्हें सत् असत् पदार्थ का विवेक है, उनके हृदय-कमल में यह परम ब्रह्मतत्त्व निश्चयरूप से विराजमान् हो सकता है। जहां यह आत्मज्ञान दीपक रखा हुआ हो वहां फिर अन्धकार नहीं रह सकता है। जहां दीपक है, वहां अँधेरा कहां से रहेगा? इसी प्रकार जहां आत्मज्ञान है, वहां फिर यह माया पर्याय संसारी हालत, ये संकट वहां ठहर नहीं सकते। यह आत्मज्ञान ही ऐसा महान् दीपक है कि किसी भी कठिन हवा में जले तो भी बुझ नहीं सकता है। कितनी भी कठिन परिस्थिति आये, पर यह विपरीत नहीं हो सकता है। यह आत्मज्ञान ऐसा अनोखा दीपक है कि जिसमें तेल-बाती की भी जरूरत नहीं है, जिसमें चेतन और अचेतन पदार्थों के सम्बंध की जरूरत नहीं है। ऐसा यह परम ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व शुद्धोपयोग में विराजे, जिसके प्रसाद से निश्चयप्रत्याख्यान मिलता है और जिसके प्रसाद से मुक्ति साम्राज्य प्राप्त होता है, सारे संकट दूर हो जाते हैं। भैया ! इस आत्मज्ञान के दीपक को लेकर हितमार्ग में गमन कीजिए। आपके पथ में क्लेशों के कण्टक मिलेंगे, विडम्बनाओं के गड्ढे मिलेंगे तो उन सबको पार करके स्वहित सदन में पहुंच ही जावोगे।

गाथा 101

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।

एगस्य जादि मरणं एगो सिज्झदि णिरयो।।101।।

जीव की असहायता- प्रत्याख्यान के प्रसंग में लगा हुआ ज्ञानी संत अपने आपके एकत्व का विचार कर रहा है, यह जीव स्वरूपत: सबसे न्यारा केवल अपने स्वभावमात्र है। इसी कारण प्रत्याख्यान भी किया जा सकता है। यह जीव चाहे संसार अवस्था में हो, चाहे मुक्त अवस्था में हो, सर्वत्र यह असहाय है। असहाय उसे कहते हैं, जिसको केवल अपना ही भरोसा रह गया, किसी भी अन्य का भरोसा नहीं रहा। प्रत्येक पदार्थ सब असहाय हैं अर्थात् किसी का सहारा किसी अन्य पदार्थ के बल पर नहीं है। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने ही सत्त्व से अपने आपमें अपना भाव बनाता है। यह जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वयं जन्मता है, अकेले ही संसारभ्रमण करता है और अकेले ही कर्म-कलंक से मुक्त होकर सिद्ध होता है। सर्वत्र इसका अपने में ही पुरुषार्थ है।

मरणों में अकेलापन- मरण दो प्रकार के होते हैं- एक नित्यमरण और एक तद्भवमरण। नित्यमरण तो निरन्तर होता रहता है। हम आपका निरन्तर प्रतिसमय मरण हो रहा है। जो समय गुजर गया, वह फिर वापिस नहीं आता। तो जिस समय की आयु निकल गयी, उतनी आयु का मरण तो हो ही गया। इसे आवीचिमरण भी कहते हैं। तद्भवमरण नाम है यह वर्तमान भव ही मिट जाए अर्थात् यह जीव इस शरीर को छोड़कर अन्यत्र चला जाए। जिसे लोग मरण कहा करते हैं, वह तद्भवमरण है। दोनों ही प्रकार के मरणों में इसको किसी अन्य पदार्थ का सहाय नहीं है। यह नित्य मरण कर रहा है तो भी वह अपने परिणमन से अपने आपमें अकेले ही कर रहा है और जब भवमरण हो जाएगा तो देह को छोड़कर चला जाएगा तो वहां भी यह अकेले मरण करेगा।

नित्यमरण और तद्भवमरण में ज्ञानी अज्ञानी की वृत्ति- अज्ञानी लोगों को नित्यमरण में घबड़ाहट नहीं हो रही है। ये तो मौज से चैन मानते हुए सब प्रकार के भोगों की सामग्रियां जुटा रहे हैं। नित्यमरण में अज्ञानी जीव को भय नहीं होता, उसको तो तद्भवमरण में भय होता है कि हाय, यह धन, वैभव, कुटुम्ब, देह- सब कुछ छूट रहा है। जबकि ज्ञानी संतों की ऐसी वृत्ति है कि वे तद्भवमरण में तो बड़ा धैर्य रखते हैं, रंच भी चिंता नहीं करते। वे जानते है कि इस पर्याय को छोड़ा तो यह आत्मा तो सुरक्षित है, उसके सत्त्व का नाश तो नहीं होता। यहां के गए दूसरी जगह पहुंच गए। यहां की सम्पदा छूटती है तो क्या हुआ? छूटी हुई तो यह पहिले से ही थी। कुछ लोगों से परिचय हो गया था तो यह स्वप्नवत् बात थी, ये सब कुछ मायारूप है। मायारूप ही परिचय हुआ था। ऐसा विवेक रखकर यह ज्ञानी पुरुष तद्भवमरण का भय नहीं करता, किन्तु नित्यमरण का भय बना है अर्थात् प्रतिसमय जो आयु गुजर रही है, उसका ज्ञानी को भय है। उसमें कैसा भय है कि यह अमूल्य जीवन गुजर रहा है? आत्मकल्याण की बात इसमें कर लेनी चाहिए, संसार के साधनों से दूर हो लेना चाहिए। दुर्लभ अवसर प्रमाद में न निकल जाए- ऐसा इस ज्ञानी पुरुष को संसार का भय बना हुआ है। तद्भवमरण में यह ज्ञानी धैर्य रखता है।

जीवनसरण का विवरण व्यवहारनय में- खैर ! कुछ भी वृत्ति किसी की हो। इस प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि यह जीव अकेला ही मरता है, इसी प्रकार यह जीव अकेला ही जन्मता है। यह मर जाना व्यवहारनय से है, इसी प्रकार यह जीवन भी वयवहारनय से है। पदार्थ तो जितने भी सत् हैं, वे अनादि से सत् हैं, अनन्तकाल तक सत् हैं। जन्म तो पर्यायों की उत्पत्ति को कहते हैं। आत्मा अनादि है तो पर्याय सादि है, आत्मा अनन्त है तो यह पर्यायसांत न, आत्मा

अमूर्तिक है तो यह पर्याय मूर्तिक है। आत्मा स्वजातीयमात्र परमार्थतत्त्व है तो पर्याय विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय है। कितना इस आत्मा में और पर्याय में अन्तर है? आत्मा और पर्याय दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है, फिर भी यह एक निमित्तनैमित्तिक भाव मात्र है कि जो इस प्रकार जन्म का सम्बन्ध बना चला आ रहा है।

विभावव्यंजन पर्यायें- विभावव्यंजन पर्याय चार प्रकार के होते हैं- नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। इस पर्याय में तीन का संसर्ग है- एक तो आत्मा, दूसरा कार्माणवर्गणा और तीसरा आहारवर्गणा। जितने शरीरी बने हैं, वे इन तीनों के पिंड हैं। यह पिंड सादि है, मूर्तिक है, विजातीय है, विभावरूप है और प्रदेशों की मुख्यता से प्रकट हुई व्यंजन पर्याय है। इस पर्याय की उत्पत्ति होती है तो उसमें व्यवहार नय की दृष्टि से यह निर्णय किया जाता है कि यह जीवित हो गया है। ऐसा जीवित होना, जन्म लेना, यह स्वयं हो रहा है, अकेले में हो रहा है। यद्यपि भेददृष्टि से निरखा जाए तो जन्म नाम किसी भी तत्त्व का नहीं होता। जीव पहिले था, चला आया और अब भी हैं। ये वर्गणाएं पहिले भी थीं, अब इस रूप में हो गयीं। कोई नई चीज उत्पन्न नहीं होती है।

जन्ममरण की प्रसिद्धि में जीव का योग- भैया ! विभावव्यन्जन पर्यायविषयक इन तीनों के सम्पर्क में भी मुख्य बात जीव पर आती है। यह जीव परिणाम करता है, उसके निमित्त से उस प्रकार का कर्मबन्धन होता है और उसके उदय में इस प्रकार का संसर्ग हो जाता है। इन सबका मूल है जीव का परिणाम। इस जीव के परिणाम को जीव ने स्वयं ही तो किया। भले ही वह विभावपरिणमन है, पर स्वयं ही तो परिणमा, कोई दूसरा पदार्थ तो नहीं परिणमा। इस कारण यह जीव स्वयं अकेले जन्मता है, यह प्रसिद्ध हुआ। फिर अगले भव में भी इसी प्रकार जन्म लेता है और नवीनजन्मक्षण को मरण कहते हैं, सो जीव स्वयं अकेले मरता है, यह प्रसिद्ध हुआ। यों यह जीव स्वयं ही मरता है और स्वयं ही जीवित होता है। अकेले पैदा होता है और अकेले मरता है, फिर भी यह मोही जीव अपने उस अकेलेपन का ध्यान न करके कुछ दिनों के लिए जो पर से सम्बंध बनाता है, उस सम्बन्ध को ही शरणभूत मानता है। जिसको अपना माना, उसे अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। इस प्रकार यह जीव रागवश अपनी विडम्बनाएँ बढ़ाता है।

भविष्यनिर्माण का ध्यान- भैया ! भविष्य का भी तो ध्यान रखना है, अपने मनमाफिक मौज तो नहीं मानना है। कोई अकेले भी हो, 50-60 वर्ष का हो गया हो, लाखों का धन भी हो तो भी यह विचार बनाता है कि इस धन को ब्याज पर लगाएँ तो अच्छी जिन्दगी कटेगी। अरे, जितना रखा है, उसी में जिन्दगी आराम से कट जाएगी। वह भी पूरा खर्च नहीं हो सकता। ब्याज से गुजारा किया तो मूल का यह सब धन भी छोड़ जाएगा या सरकार छीन लेगी और किसी तरह से बरबाद हो जाएगा। लेकिन तृष्णा ऐसी है कि उसे यह भय रहता है कि भविष्य में कहीं मेरे जीवन में कष्ट न आ जाए। एक इस छोटे से जीवन में तो इतना बड़ा विचार किया जाता है कि ऐसा प्रोग्राम बनाएँ कि भविष्य में यह सारी जिन्दगी भली प्रकार गुजरे, लेकिन इस जिन्दगी से बड़ा जो अनन्तकाल पड़ा हुआ है, उस अनन्तकाल की अपनी व्यवस्था के लिए कुछ चिंतन नहीं होता।

बाह्यसमागम की प्राप्ति में भी जीव का मूल योग- इन सब कुछ समागमों को नाक, आंख, कान आदि नहीं कमाते। यह धन-सम्पदा समागम तो पूर्व समय में जो निर्मल परिणाम किया था, त्यागभाव किया था, उदारभाव किया था, दान दिया

था, परसेवा की थी, भगवद्भक्ति की थी, उन परिणामों से ऐसे ही सुकृत का बन्ध हुआ था, जिसके उदय में आज कुछ प्राप्त हुआ है। मनुष्य-मनुष्य तो सब एकसमान हैं, एकसी शक्ल है, कुछ भी तो भिन्नता नहीं है; फिर भी कोई सम्पदा वाला हो गया, कोई निर्धन हो गया, यह जो अन्तर देखा जाता है, इसका क्या कारण है? इसका कारण अपना पूर्वकृत परिणाम ही है। इस परद्रव्यरूप सम्पदा को प्राप्त करना है, कुछ समय बनाए रखना है, अत: पुण्य की रक्षा करनी चाहिए। उस पुण्य-सम्पदा की रक्षा करना अच्छा है, जिसके कारण सम्पदा मिली है। मूल के रक्षा का ध्यान नहीं है और जो मिली है सम्पदा, जड समागम उसकी रक्षा का निरन्तर चिंतन है तो इससे किस प्रकार गुजारा चलेगा।

एकत्व के भान में परवस्तु का सविधि त्याग- यह जीव सर्वत्र अकेला है। इस पर जो कुछ सुख-दु:ख बीतता है, सबको अकेले ही भोगता है, दूसरा नहीं भोगता है। शरीर में छोटी सी फुंसी हो जाए तो उसकी वेदना तक को भी कोई जीव बांट नहीं सकता। किसी भी प्रकार की कल्पना जगे, उस कल्पना का कष्ट भी यह अकेले ही भोगता है। सर्वत्र यह अकेला ही है- ऐसा अपना एकत्वस्वरूप निरखने पर परवस्तु का त्याग सही मायने में हो सकता है।

एकत्वदर्शन- इस जड़-सम्पदा से मैं न्यारा हूं, इन चेतन परिग्रहों से भी न्यारा हूं, इस शरीर से भी न्यारा हूं, जो जीव के साथ कर्म बँधे हुए हैं, उन कर्मों से भी न्यारा हूं। वे कर्म जिनके परिणामों का निमित्त पाकर बँधा करते हैं, ऐसे शुभ-अशुभ परिणामों से भी न्यारा मैं आत्मतत्त्व हूं। आत्मा का जो ज्ञान बर्त रहा है, जानन चल रहा है; वह इस समय खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप है, पूर्ण ज्ञानरूप नहीं है। मैं इन जाननों से भी न्यारा हूं और भविष्य में कभी पूर्णज्ञान भी हो जाए, सर्वज्ञता प्रकट हो जाए तो सारे विश्व का जाननहार ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान किसी समय से है। यह सर्वज्ञत्व स्वभाव है, शुभ विकास है, फिर भी उस शुद्ध विकास का मूल जो ज्ञानस्वभाव है, वह मैं हूं। वह शुद्धविकास भी मैं नहीं हूं। मैं वह हूं, जो अनादि से अनन्त तक रहता हो। ऐसा अपना एकत्व जिसके परिचय में आया है, वह ज्ञानी संत वास्तव में प्रत्याख्यान करता है, बाहरी चीजों का परित्याग करता है।

ज्ञान की प्रत्याख्यानरूपता- भैया ! परित्याग तो परमार्थ से भीतर ज्ञान में बसा हुआ है। किसी चीज को यहां से वहां उठाकर रख दो, ऐसे हटा देने से त्याग नहीं बन गया। त्याग तो वास्तव में भीतर में ऐसा प्रकाश जगे कि यह मैं मात्र इतना ही हूं, ज्ञानातिरिक्त मेरा कुछ नहीं है- ऐसा भीतर में प्रतिबोध हो, उसका नाम त्याग है और उस त्याग में ही इस जीव के विशुद्धि जगती है। ऐसा परमार्थ प्रत्याख्यानमय एकत्व स्वरूप निहारने पर निश्चयप्रत्याख्यान होता है। यह जीव सर्वत्र अकेला है। जन्मते अकेला, बड़ा होने पर अकेला, विकल्पकार्य किया तो वहां पर भी अकेला है। इसका काम तो सर्वत्र अपना गुणपरिणमन करते रहना है।

ममत्व का महान् संकट- भैया ! किसी परजीव में, स्त्री में, पुत्र में- किसी में भी यह मेरा है- ऐसा भाव होना सबसे बड़ा संकट है, मगर मोही जीव इसमें ही राजी हैं। किसी वृद्ध-पुरूष से पूछो कि तुम मजे में हो ना? कोई चिंता तो नहीं है? वह उत्तर देता है कि मुझे कोई चिंता नहीं है, बड़े मजे में हैं। रंच भी फिकर नहीं है, दो चार लड़के हैं, 5-7 नाती हैं, सब भरपूर है, आनन्द है, कुछ भी हमें चिंता नहीं है। अरे, चिंताएँ तो इतनी रख रखी हैं, उन्हीं चिंतावों का तो

बखान कर रहे हैं। इस ख्याल में यह कल्पना जग जाना कि यह मेरा पुत्र है। इस भाव के समान इस जीव का कोई बैरी नहीं है। यह मेरी स्त्री है, यह मेरी सम्पदा है- इस प्रकार के अन्तर में श्रद्धा बसी हुई है, यही महान् संकट है।

मायामयी पूछ की असारता- इस दुनिया में धनिकों की पूछ होती है, यह ठीक है। अंजाने में लोग कहते भी तो हैं कि चोर-चोर मौसेरे भाई। जहां सभी चोर बैठे हों, वहां तो चोरी की कला में जो चतुर हो, बढ़िया सफाई से दूसरों का धन हड़प सके, उसका ही बड़प्पन उन चारों के बीच में माना जाएगा ना? कोई बुद्धू चोर चारी करने जाए और जरासी देर में पकड़ा जाए तो उसकी तो उन चोरों के बीच में निन्दा होगी कि यह होशियार नहीं है, यह बेहोश रहता है। यों उसकी निन्दा होगी। यों ही इस मायामयी दुनिया में जो धन की होड़ में आगे बढ़ गया, उसकी प्रशंसा हो गयी। जो सरल-भाव से रहे, संतोष-परिणाम से रहे, धर्म की ओर अपना चित्त लगाए, धर्म के लिए अपना जीवन समझे, इस मायामयी दुनिया में जो सत्य सत्य रहता है- ऐसे पुरुष की इन मोही जीवों में मान्यता नहीं है। ठीक है, लेकिन सारे जीवनभर भी तृष्णा कर ली जाए, पर शांति शांति के ही ढंग से आ सकेगी, उसका ढंग नहीं बदल सकता।

शांति की पद्धति में शांति-मिलन- कोई पुरुष मायाचार करके अपना कैसा ही दिखावा बना ले, पर सुख-दु:ख, शांति-अशांति की जो पद्धति है, उसे कोई नहीं बदल सकता। कोई बड़ा अफसर हो जाए, मिनिस्टर हो जाए, राजा बन जाए, कुछ भी हो जाए, लेकिन बाह्यपदार्थों के मिलने से बाह्य-सामग्री के अनुसार सुख-दु:ख, शांति-अशांति की व्यवस्था नहीं है। मेरी शान्ति का सम्बन्ध तो अपने ज्ञानप्रकाश से है। बड़े-बड़े महापुरूष, चक्रवर्ती, सम्राट अपने साम्राज्य में सुखी न रह सके और उसका परित्याग करके जब अपने आपको केवल एक अकेला ही निरखना शुरू किया और अकेले ही रह गए, सर्व का परित्याग किया, जहां बातें करने वाला कोई दूसरा नहीं है, वही बातें करने वाला है और उसी से ही बातें की जा रही हैं- ऐसा अकेलापन पाता है तो वहां उसे शान्ति मिलती है।

ध्येय का निर्णय- भैया !एक निश्चय तो रख लीजिए। एक बात तो पकड़ लीजिए। हम मनुष्य बने हैं तो धनी बनने के लिए नहीं बने हैं; बल्कि इस अनादि अनन्त संसार से सदा के लिए छुट जाएँ, उसका उपाय बनाने के लिए मनुष्य बने हैं। धन रहता है तो रहे, जाता है तो जावे, समागम रहता है तो रहे, जाता है तो जावे। इतना बल, इतना धैर्य रखना चाहिए कि कदाचित् यह मैं शरीरमात्र अकेला भी रह जाऊँ, कोई भी साथ न निभाए, कोई भी साथ न रहे, तब भी क्या है? जो था, सो ही रह गया है। बिगड़ा क्या है? यहां मुझमें कौनसा घाटा आ गया है? ध्यान तो दीजिए। इन मायामयी लोगों में अपना दिखावा देने के लिए जो संकल्प लिया था, उस संकल्प का घात हुआ है और तो कुछ नुकसान नहीं हुआ है। वह संकल्प तो मेरा बैरी था। यदि मेरे बैरी का विनाश होता है तो लाभ में हम रहे या नुकसान में रहे? लाभ में ही तो रहे, लेकिन मोह में सत्य चिंतना नहीं चलती है।

अमरत्वदायक अमृत- यह जीव जन्मता भी अकेला है और मरता भी अकेला ही है। जब मरण होने को होता है तो स्वयमेव ही होता है। कोई मरने का प्रोग्राम नहीं बनता है। विवाह-काज की तो चिट्ठियां छप जाती हैं और सम्भव है कि जन्म के दिनों का अन्दाज होने पर जन्म की भी चिट्ठियां छप जावें, पर मरण का प्रोग्राम इस जीव का नहीं बनता है, अचानक मरण हो जाता है। चाहे बड़े-बड़े बन्धु जन भी रक्षा करने लगें तो भी मरण से कोई बचा नहीं सकता। यह

जीव, पुरुष स्वयं महाबली हो, महापराक्रमशाली हो, बहुत धनी हो, जिसका कि मद बन रहा हो, अब मरण समय में वे सब बेकार हो जाते हैं। यह जीव सर्वत्र अकेला है। ऐसे अपने अकेलेपन को निरखकर ज्ञानदृष्टि करके अमृत का पान करते रहना चाहिए। मरण से रक्षा करने वाला, सदा अमर रखने वाला वह कौन तत्त्व है? सहज निज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करना, यही अमृत है, अन्य कहीं कुछ अमृत नहीं है। जो अपने आपके ज्ञानस्वभावमात्र की दृष्टि करता है, वह अमर होता है। उसके लिए जीवन-मरण कुछ नहीं रहता है। ऐसे एकत्वस्वरूप का चिंतन करने वाला ज्ञानी प्रत्याख्यान कर रहा है।

ज्ञानी का एकत्वपरिचय- निश्चयप्रत्याख्यान के प्रकरण में यह उत्तम प्राकरणिक ज्ञानी संत अपने आपके एकत्वस्वरूप का परिचय कर रहा है। यह जीव अकेला ही मरता है, अकेला ही जन्मता है और अकेला ही संसार के परिणामों को करता हुआ संसारी बना रहता है और यह ही अकेला कर्मरज से रहित होकर शुद्ध होता है। अकेले ही यह जीव वह परिणाम करता है, जो तत्त्वज्ञान और वैराग्य से भरा हुआ है और उसी निज शुद्ध रुचि की प्रेरणा से बाह्य में किसी परमगुरु का शरण ढूंढ़ता है, परमगुरु की उपासना भी यह अकेला ही करता है और परमगुरु की सेवा का प्रमाद भी यह अकेला ही पाता है। विनय भाव पूर्वक अपने आपमें गुणों का प्रसाद पा जाना परमगुरु का प्रसाद है। प्रसाद निर्मलता को कहते है। अपने आपकी निर्मलता पा लेने का नाम है प्रसाद। जिसने अपने आत्मा का आश्रय परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त किया है- ऐसा यह योगी निश्चय शुक्लध्यान के बल से अपने अभेद आत्मा का ध्यान करता है और उस आत्मध्यान के प्रसाद से अन्तरंग और बहिरंग समस्त मोहों से दूर होकर शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

संसारावस्था व मुक्तावस्था दोनों में एकत्ववर्तन- यह जीव जब तक संसारी है, तब तक अपने उपयोग को उपरक्त बनाकर स्वयं ही विभावरूप से परिणमता है। इस विभावपरिणमन में निमित्तभूत पदार्थ अवश्य ही अन्य होता है, किन्तु निमित्तभूत पदार्थ के सन्निधान में भी यह जीव निमित्त की परिणति ग्रहण न करके केवल अपने आपके विपरिणमन से विभावरूप परिणमता है। यह अकेले ही संसारी होता है। जब यह बहिरात्मा जीव बहिरात्मत्व को त्यागकर अन्तर्ज्ञान में प्रवेश करता है, उस समय भी यह जीव अकेले ही स्वयं अपने दुर्भावों को छोड़कर शुद्ध भावों का आश्रय लेने के लिए उत्तम-मार्ग को ग्रहण करता है और जब यह जीव परमयोग के बल से अपने अभिन्न सहज ज्ञानस्वरूप की उपासना में होता है, उत्कृष्ट धर्मध्यान और शुक्लध्यान में प्रवेश करता है, तब भी यह जीव अकेले ही अपने पुरुषार्थ को करता है। उसके प्रसाद से क्षीण मोहावस्था होती है। विशद एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश का ही अनुभव जहां होता है- ऐसी परिस्थिति को भी यह आत्मा अकेले ही अपने में करता है। सर्वज्ञत्व प्रकट हो, अरहंतावस्था आए तो वह भी अपने आपमें अकेले में प्रकट होती है, मुक्त भी अकेले ही होता है। सर्वत्र यह जीव अपने अकेले में ही परिणमता है।

निष्पक्ष आराधना- जैनसिद्धान्त में कौन नमस्कार करने के योग्य है? कौनसी आराधना किये जाने के योग्य है? इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का पक्ष नहीं रखा गया है। किसी व्यक्ति से इस सिद्धान्त का सम्बन्ध नहीं है कि अमुक

नाम का व्यक्ति या अमुक संत हमारा प्रभु है, आराध्य है, नमस्कार के योग्य है- ऐसा कोई पक्ष नहीं रखा है। इस सिद्धान्त ने तो केवल ब्रह्मस्वरूप और ब्रह्मस्वरूप का परमविकास यही नमस्कार के योग्य समझा गया है। इसी ओर दृष्टि होती है ज्ञानयोगी संत पुरुषों की। तीर्थंकरों को पूजना, मोक्षगामी पुरुषों को पूजना- यह व्यवहार से है। उसमें भी यह आशय पड़ा हुआ है कि जो शुद्ध ज्ञानानन्द का पुंज है, वही हमारा आराध्य है। त्रिसलानन्दन-महावीर हमारा आराध्य नहीं है, बल्कि उनकी आत्मा ने जो विकास किया, वह आराध्य है। यों तो कोई भी अपनी बहु का नाम त्रिसला रख दे और उससे जो लड़का हो, उसका नाम महावीर रख दे तो लो हो गया त्रिसलानन्दन-महावीर। तो क्या ऐसे व्यक्ति की पूजा है? नहीं है। स्वरूप और स्वरूपविकास की पूजा है।

नमस्कारमन्त्र में आद्य विकास पद- मूलमन्त्र णमोकारमन्त्र में किसी भी व्यक्ति का नाम नहीं है। न आदिनाथ और न नेमिनाथ आदि का नाम है और न ही हनुमान, रामचन्द्र इत्यादि का नाम है। जो स्वरूप की साधना करे, आत्मानुभव की सिद्धि अविचल बनाने का यत्न करे- ऐसा जो कोई भी आत्मा हो, वह साधु है। साधु का भेष नहीं होता है। उन्हें किसी प्रकार के वस्त्र की अथवा कुटुम्ब की आवश्यकता नहीं होती है और न उन्होंने किसी को अपनी आत्मसाधना के ध्येय में साधक समझा है, बल्कि बाधक माना है। इस कारण सर्वपरिग्रह छूट गया। वश चलता तो इस शरीर को भी छोड़कर वे आत्मसाधना करते, पर शरीर कैसे छोड़ा जाये? इसलिए उनके पास शरीरमात्र रह गया और चेतन-अचेतन समस्त परिग्रह दूर हो गये। अब कोई उस शरीरमात्र के रह जाने को भेष कहने लगे- निर्ग्रंथ भेष है, नग्न भेष है तो इसके लिये क्या करें? पर वह भेष है ही नहीं। भेष तो वह कहलाता है, जहां कुछ बनावटपना बनाया जाये। कुछ चीज रखी जायें, कुछ श्रृंगार किया जाये, इसका नाम भेष है। जहां त्याग ही त्याग है, फिर सकल संन्यास के उस प्रसंग में जो बात शेष रह गई है, वहां उसका भेष कहना केवल उपचारमात्र है। उनके भेष नहीं है, किन्तु वे आत्मसाधना की सच्ची धुन में लगे हुए हैं- ऐसे पुरुषों को साधु परमेष्ठी कहते हैं। इसमें कहां पक्ष है? कोई पुरुष हो, जो केवल आत्मसाधना में जुट गया हो, उसे साधु कहते हैं और वह साधु हमारे लिए वन्दनीय है।

साधुपरिचय के प्रकरण में ईर्ष्या व भाषासमिति- भैया ! साधु की मुख्य पहिचान विधिरूप और निषेधरूप में दो प्रकार की है- जो परिग्रह से तो रहित रहता है और ज्ञान-ध्यान में लीन रहता है। विधिरूप से साधुवों की यह पहिचान है कि जो ज्ञान, ध्यान, तपस्या में रत रहा करते हों और निषेधरूप से यह पहिचान है कि जो किसी भी प्रकार का आरम्भ न करते हों, परिग्रह न रखते हों। अब सोच लीजिए कि ऐसे साधु हमें किस ढंग में मिलेंगे, क्या करते हुए मिलेंगे? आत्मसाधना में यह स्वाभाविक पद्धति है। जैसे कि 13 प्रकार के चारित्र कहा करते हैं तो आत्मसाधना के 5 धुन वाले साधु कहीं जायेंगे। जाने की जरूरत तो नहीं है, किन्तु एक स्थान में रहने से आत्मसाधना में बाधा होती है, रागद्वेष के नये-नये प्रसंग बनते हैं। उनको मिटाना है, इसलिये आत्मसाधना के ही ख्याल से उन्हें जाना पड़ता है। यदि वे विहार करें तो क्या कूदते-फांदते जायेंगे या रात को चलेंगे या ऊँचा मुँह उठाकर चलेंगे या कषाय करके चलेंगे? ये बातें तो न हो सकेंगी। वे तो देख करके चलेंगे, दिन में चलेंगे, अच्छे परिणाम करके चलेंगे। इसी प्रकार वे किसी से

बोलेंगे तो क्या लड़ाईभरी वाणी बोलेंगे, क्या दूसरों को फंसाने की बात कहेंगे? वे तो हितकारी और परिमित मधुर भाषण करेंगे। इसी का नाम भाषासमिति है।

साधुपरिचयप्रकरण में ऐषणा, आदाननिक्षेषण व प्रतिष्ठापनासमिति- साधु को क्षुधा की वेदना हो जाये तो उस वेदना में, आत्मसाधना में फर्क आ सकता है। इसलिए आत्मसाधना की दृष्टि से साधु आहार के लिये उठते हैं। आहार के लिये आहार नहीं करते हैं, बल्कि आत्मसाधना के लिये आहार करना पड़ता है। तब क्या वे इतनी कषाय कर सकते हैं कि वे खेती करें या कोई आय का जरिया बनायें या अपने हाथ से ही रसोई बनाना शुरू करें? वे क्षुधा की वेदना को शान्त करने का यत्न तो करते हैं, मगर सुगम क्रिया से हो जाये तो हो जाये। उनके इतनी आसक्ति नहीं है कि वे एक बात को आरम्भ करें। दूसरी बात यह है कि इतनी आसक्ति उन्हें नहीं है कि लोगों से मांगते फिरें। तब क्या होगा? आत्मसाधना करने वाले साधु आहार करने की वांछा से धर्मात्मा पुरुषों के मकानों की गलियों में निकल गये। कोई धर्मात्मा पुरुष भक्तिपूर्वक, सम्मान सहित निवेदन करे तो भोजन करने की उनकी इच्छा हो जायेगी। चले गये भोजनशाला में, पर आत्मसाधना के इच्छुक पुरुष यद्वा तद्वा अभक्ष्य भोजन नहीं करते। वे तो हिंसारहित शुद्ध भोजन करते हैं। पर शुद्ध भोजन बना है या नहीं, यह कैसे जानें वे? दातारों की क्रिया निरखकर, कैसे यह बोलता है, कैसे खड़ा होता है, कैसे बैठता है, क्या इसके परोसने की पद्धति है, किस प्रकार से सामान रखा हुआ है- इन बातों को ही देखकर साधु जन सब परख लेते हैं कि इनका भोजन निर्दोष शुद्ध है। इस प्रकार आहार लेने का नाम है एषणासमिति। आत्मसाधक पुरुष प्रयोजनवश किसी चीज को धरेगा, उठायेगा तो देख-भालकर धरेगा और उठायेगा- इसी का नाम है आदाननिक्षेपणसमिति। वे शौच करें, मूत्र करें, थूकें, नाक छिनके अथवा पसीना पोंछकर फैंके तो ऐसी जगह क्षेपण-क्रिया करते हैं कि जिस जगह किसी जीव को बाधा न पहुंचे। इसी को प्रतिष्ठापनासमिति कहते हैं।

साधुपरिचयप्रकरण में गुप्ति और महाव्रत- साधु के समितिप्रवृत्तियां, शुद्ध प्रवृत्तियां हो जाती हैं- ऐसा होना उनका स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त इस प्रयत्न में वे रहते हैं कि आत्मसिद्धि में बाधक चूँकि ये मन, वचन, काय के विस्तार हैं, इसलिए इनकी क्रियाएँ रोकनी चाहिएँ। वे मन, वचन, काय की क्रियावों को रोकते है, इसका ही नाम है गुप्ति। साधु का व्यवहार दयापूर्ण और सच्चाई से भरा हुआ होता है, किसी भी प्रकार की चोरी का नाम नहीं होता, पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। लेशमात्र भी परिग्रह न रखें- ऐसी वृत्ति हो जाती है, उसका नाम है महाव्रत। यों आत्मसाधना का इच्छुक पुरुष चरित्र में लगता है। जो इस प्रकार लगे, उसका ही नाम साधु है। साधु जनों में जो पालक, प्रमुख है, वह है आचार्य। जो शिक्षक ज्ञानी है, वह है उपाध्याय।

साधु आत्मा का परम और चरम विकास- नमस्कार के मूलमन्त्र में किसी भी व्यक्ति के नाम की पूजा नहीं है, खूब परख लो। ये ही साधु पुरुष आत्मा की अभेद-साधना करके कर्मों से दूर होते हैं, सारे विश्व के ज्ञातादृष्टा होते हैं सहज अनन्त आनन्द में मग्न होते हैं, उन्हीं का नाम है अरहंत। अरहंत का अर्थ है पूज्य। व्यक्ति का भी नाम नहीं है। ये अरहंत शेष बचे हुए अघातिया कर्मों से जब दूर हो जाते हैं, शरीर से भी छुटकारा पा लेते हैं, सर्वथा सर्वविशुद्ध हो जाते हैं, वे सिद्धभगवान् कहलाते हैं। यह भी किसी व्यक्ति की पूजा नहीं है।

विकास में एकत्व- जो पुरुष सिद्ध हुआ है, वह केवल अपने में, अकेले में अभिन्नपुरुषार्थ करके सिद्ध हुआ है। यह जीव सर्वत्र अकेला है। स्वयं ही यह कुछ कर्म किया करता है और स्वयं ही उसका फल भोगा करता है। यह अकेला ही संसार में भ्रमण करता है और अकेला ही संसार से मुक्त हो जाता है। ऐसा अपने आपके एकत्वस्वरूप की भावना करने वाला यह ज्ञानी साधु निश्चयप्रत्याख्यान कर रहा है।

स्वशरणग्रहण- हे मुमुक्ष पुरुष ! अपने आपकी करुणा कर। तू ही स्वयं अकेला अच्छे–बुरे परिणाम करता है और उसके फल को तू अकेला भोगता है। जन्म–मरण सब तुझ पर अकेले ही विदित होंगे। तू यहां किसी को सहाय मत समझ। अपने आपके अन्त:स्वरूप का शरण ग्रहण कर। इस जगत् में जो भी कुछ तुझे समागम मिल रहा है, तू ऐसा समझ कि अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये, अपनी कषाय वेदना की शांति के लिये यह जमात, टोली इकट्ठी हुई है। ये कुटुम्बी जन, ये मित्र जन सब मेरा हित करने के लिये नहीं मिले हैं। ये सब अपने कषाय की पूर्ति करने की ही धुन में हैं। यहां मेरा कोई हितकर नहीं हैं।

क्रिया में एकाकीपन- भैया ! कोई मेरे हित की बात करने का दम भरे तो भी वह वस्तुत: अपने आपके किसी स्वार्थ अथवा कषाय की पूर्ति के लिये दम भरता है। वस्तु के स्वरूप में ही यह बात नहीं है कि कोई जीव किसी दूसरे जीव का हित कर सकता हो। फिर वस्तुस्वरूप के विरुद्ध कौनसा हमारा हित करने में समर्थ हो सकता है? यह बात जैसी दूसरे की कही जा रही है, ऐसी ही तू भी अपनी समझ कि मैं भी किसी जीव को सुख नहीं दिया करता हूं, किंतु मुझे जिस कल्पना से कुछ सुहावना लगता है, समझ मिलती है, उसके अनुकूल अपनी क्रिया किया करता हूं। मैं किसी दूसरे को सुख नहीं दे सकता हूं। सर्व जीव अपने आपमें अकेले में चाहे विभावपरिणमन करें, चाहे स्वभावपरिणमन करें, अकेले ही किये जा रहे हैं।

एकत्वदर्शन की शिक्षा- भैया ! जैसे सब हैं, वैसा ही मैं हूं। मेरे लिये इस जगत् में कुछ नई बात नहीं है। जो वस्तुपरिणमन की पद्धति है, उसी पद्धति से ही सबका परिणमन चलता है। हमें कुछ अपने आप पर करुणा करनी चाहिये। अपने एकत्वस्वरूप को निहारकर अपने आपमें अपना प्रसाद पाना चाहिये। यह ही सच्चा प्रत्याख्यान है और इसमें ही तो परमसमाधि, परमभक्ति तथा परमकल्याण प्रकट होता है।

गाथा 102

एको मे सासदो अप्पा .णाणदंसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।।102।।

एकत्वचिंतन- मेरा यह शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है। इस ज्ञानदर्शन भाव के अतिरिक्त शेष जितने भी परिणाम हैं, बाह्यभाव हैं, विभाव हैं अथवा अन्य पदार्थ हैं, वे सब संयोगलक्षणात्मक हैं। जो जीव अपने आपके स्वरूप को एकत्व में

परिणत निहार रहा है, उसके चिंतन की यह बात चल रही हैं। यह जीव दुष्कृत के कारण जन्म और मरण को प्राप्त होता है तो वहां भी यह अकेला ही जन्मता है और मरता है। यह अपने आपमें जितने भी विकल्प उठाता है, उन्हें भी यह अकेला विकल्प करता है। उन विकल्पों के कारण अपनी स्वरूपदृष्टि से विमुख होकर कर्मोदयजनित जो वैषयिक सुख अथवा दु:ख हैं, इनको यह बारम्बार भोगता है तो यह अकेले ही भोगता है। कोई समय उत्तम आये और क्षयोपशमलब्धि प्रकट हो, सद्गुरुवों का उपदेश भी मिले तो उस काल में जब यह जीव अपने स्वभाव की ओर चलता है तो वह अकेला ही चलता है। रुलता है तो अकेला, संसार के संकटों से छूटता है तो अकेला, सर्वत्र यह जीव अपने एकत्वस्वरूप में है। इस प्रकार एकत्व जगने में परिणत जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष है, उसका ही यह चिंतन चल रहा है।

आत्मा की ज्ञानदर्शनस्वरूपता- मेरा यह शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है। यह किस आत्मा की बात कही जा रही है? व्यवहारदृष्टि से देखे हुए आत्मा की बात नहीं कही जा रही है, बल्कि मेरे स्वरूप में स्वत:सिद्ध विराजमान् जो त्रिकाल निरुपाधिस्वभाव है, उसमें बसा हुआ जो निरावरण ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति है, उस शक्तिस्वरूप आत्मा की बात कही जा रही है। यह मेरा आत्मा है- ओह, इस प्रकार की प्रीतिपूर्वक आत्मा का सम्वेदन करने में कितना स्वभाव का अनुराग झलक रहा है? प्रीतिपूर्वक इस ज्ञानी के यह व्यवहार चल रहा है कि यह मेरा आत्मा है। आत्मा की समस्त दशावों को छोड़कर उनमें उपयोग न देकर भोग और उपयोग की तरंगों को भी न निरखकर त्रिकाल निरावरण निरुपाधि जो ज्ञानदर्शनस्वभाव है, तन्मात्र आत्मतत्त्व के प्रति कहा जा रहा है कि यह मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है।

आत्मा की अशरीरता- इस मेरे आत्मा में यह शरीर भी नहीं है। इस समय हम आप शरीर में बंधे हैं। बंधे हुए रहे आयें, फिर भी शरीर के बन्धन को न निरखें, शरीर को ही अपने लक्ष्य में न लें, है ही नहीं शरीर, इस प्रकार का उपयोग करके अन्तर में अपने आपके स्वरूप को निहारो। वहां जो केवल ज्ञानदर्शन स्वभावमय आत्मा है, उसकी बात कही जा रही है कि यह आत्मा शरीर से भी जुदा है। यहां तक कि जिनकी दृष्टि पहुंची है, उनके संसार-संकट समाप्त हो जाते हैं।

शान्ति का उपाय- भैया ! सब कुछ किया जाये, पर एक यह अपने पते की, अन्तर की बात न विदित हो तो कुछ नहीं किया; बल्कि अपनी बरबादी का कारण ही बनाया। यह बाह्य में धन-सम्पदा लाखों और करोड़ों की भी हो जाये, पर हे आत्मन् ! तू तो अमूर्त आकाशवत् निर्लेप केवल अपने स्वरूपमात्र है और बहुत विशाल सम्पदा में तेरा यदि ममता का परिणाम जगे तो यह तो तेरे पर पहाड़ ढा गया। तू शान्त नहीं रह सकता। तेरी शान्ति तो तेरे आकिन्चन्य भाव पर निर्भर है। मेरा जगत् में कहीं कुछ नहीं है, केवल मैं ज्ञानदर्शन प्रकाशमात्र हूं- ऐसा भाव बने, ऐसा ही स्वभाव का अनुभव बने तो शांति है अन्यथा शांति नहीं है।

पर की आशा में क्लेश का मिटना असंभव- हे आत्मन् ! जो चीज तेरी नहीं है, उसमें क्यों ममता की जा रही है? भूख, प्यास, ठण्ड, गरमी की वेदना मिटाने के लिये यदि बाह्य का संचय करते हैं, तब तो कुबुद्धि नहीं कही जा

सकती। वह शरीर का धर्म है और उसे तो अभी निभाना पड़ेगा; किंतु इस मायामय जगत् में, मलिन पापी मायामय कषायों से भरे संसार में तू किससे अपने यश की भीख मांगता है? दुनिया के लोग मुझे धनिक कह सकें, इस भाव से व्यामोही पुरुष धन से ममता बढ़ाये जा रहे हैं। ये सब क्लेश इस शरीर के कारण हैं। अपने आपको शरीररहित निरखें तो इन क्लेशों से मुक्त होने का उपाय मिलेगा। जब तक तू अपने को शरीररहित न निरखेगा, तब तक तू इन क्लेशों को न मिटा पायेगा। एक क्लेश मिटायेगा तो दूसरा कष्ट हाजिर है। है कोई ऐसा पुरुष यहां, जिसके क्लेश न आया करते हों? कितने क्लेश मिटावोगे- निर्धनता का या अपयश न हो जाये इसका या अपनी इज्जत की चिंता का? किस-किस का दु:ख मिटावोगे? किसी प्रसंग में मान लो दु:ख मिट गया तो नया दु:ख अवश्य आ जायेगा। यह संसार दु:खों का घर है। इस दु:खमय संसार में ममता करना बड़ी अज्ञानता है। अपनी संभाल कर लो, फिर दूसरों की रक्षा करने की सोचो। स्वयं तो अरक्षित हैं और दूसरे प्राणियों की रक्षा की चिंता लादे हैं।

दुर्लभ समागम के सदुपयोग का अनुरोध- भैया ! जो समय गुजर रहा है, वह वापिस नहीं आ सकता। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिला करता। जो मनुष्य नहीं हैं, ऐसे बहुत से जीव जो नजर आ रहे हैं, उनकी जिन्दगी तो देखो- भैंसा, बैल, घोड़ा, गधा आदि जोते जा रहे हैं, पीठ पर चाबुके लगती जा रही है और बांय-बांय करते जा रहे हैं। कितने दु:ख वे भोग रहे हैं? हांकने वाले जरा भी यह निर्णय नहीं कर रहे हैं कि इनकी भी हमारी जैसी ही जान है। कीड़े-मकौड़े आदि जीवों की हालत तो देख ही रहे हो, ये सब भी हम आपकी ही तरह चेतन जीव हैं। हम आपने सुखी होने का कोई पट्टा नहीं लिख रक्खा हैं। यह तो थोड़ा पुण्य का उदयकाल है, पर जो दुर्गति अन्य जीवों की हो सकती है, वही दुर्गति अपनी भी हो सकती है। इस कारण संसार से कुछ भय लायें, कुछ धर्म की ओर रुचि करें।

विषवृक्षचिंतन की क्यारी से पार्थक्य- यह मेरा आत्मा शाश्वत है, सर्वसंकटों से मुक्त है, इसमें शरीर का भी सम्बन्ध नहीं हैं। यह शरीर संसार के भ्रमण को बढ़ाने का कारण है। इस शरीर का प्रेम संसार के संकटों की बगिया को हरी-भरी रखने के लिये, लहलहाती रखने के लिये जल-सिंचन के आधार जैसा काम कर रहा है। जैसे किसी बाग में क्यारी बनाकर नाली में पानी का प्रवाह करते हैं, उससे यह वृक्ष हरे-भरे बने रहते हैं, बढ़ते चले जाते हैं- ऐसे ही यह शरीर उस क्यारी की नाली की तरह है, जिसमें दुर्भावों का जल प्रवाह किया जा रहा है और उस जल-सिंचन से यह संसार का विषवृक्ष हरा भरा होकर बढ़ता चला जा रहा है। तू इस शरीर से भी जुदा है, शरीर की रुचि से संसार के सारे संकट बनते है। सामायिक में, स्वाध्याय में या कहीं भी बैठे हों, दुकान पर ही क्यों न हों, किसी भी जगह दो-चार सेकिण्डों को भी कभी तो अनुभव करें कि यह मैं हूं, यह मैं स्वरूप सत् आत्मा सर्वपरपदार्थों से भिन्न, शरीर से भी जुदा, केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र हूं। इस तत्त्व को न जानने के कारण कितना अंधकार छाया है इन जीवों में? इन्हें शुद्ध यथार्थस्वरूप नहीं सूझता है।

स्व का स्वतन्त्र स्वरूप- यह मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् हूं। यह मैं सदा एक हूं, नानारूप नहीं हूं। जैसे जगत् में ये नाना प्रकार के जीव दिख रहे हैं- गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि ऐसे ही ये हम आप भी जितने दिख रहे हैं, उन सबके सम्बन्ध में ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि मुझे तो कोई दिख ही नहीं रहा है। कहां प्रवेश करके

ज्ञानी चिंतन कर रहा है? भिन्न-भिन्न मनुष्यों को निरखकर। एक मानने की बात तो दूर रही, यह तो सुगम बात है; किंतु वृक्ष कीड़े, पशु-पक्षी जैसे अत्यन्त भिन्न जीवों को निरखकर भी ज्ञानी इन सबमें एकत्व देख रहा है। ये सब केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हैं। ऐसा ही यह मैं ज्ञानमय आत्मा शाश्वत हूं, ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं।

स्वरूप की क्रियाकाण्ड विविक्तता- यह मैं शाश्वत आत्मा सर्वप्रकार की क्रियावों से दूर हूं। मैं कुछ करता हूं, मैं अमुक क्रियायें करता हूं, इस प्रकार की दृष्टि में यह मेरा आत्मा ओझल हो जाता है। मैं भावप्रधान हूं, यह केवल अपने परिणाम ही बनाता है। उसी परिणाम पर शान्ति और अशान्ति निर्भर होती है। मेरा यह आत्मतत्त्व समस्त क्रियाकाण्डों से दूर है। ये नाक, कान के आभूषण जो स्वर्ण के हैं, ये नाक, कान की शोभा बढ़ाने के लिये है, किंतु वे ही आभूषण नाक, कान को छेदकर एक घाव बना दें तो वे आभूषण किस काम के हैं? ये क्रियाकाण्ड चलना, उठना, बैठना, शुद्धता से हाथ पैर की वृत्ति करना, दूसरों से अलग रहना, छुवाछूत आदिक इन सब क्रियावों से चलना, इन सबका उद्देश्य तो निश्चय धर्म का श्रृंगार करने के लिये था; किंतु ये क्रियाकाण्ड एक ममता को उत्पन्न करके हमारे ही धर्म में एक बड़ा रोग पैदा कर दें, बुद्धि को सड़ा दें, बहिर्मुखी दृष्टि हो जाये तो ये क्रियाकाण्ड समूह मेरे किस काम के हैं? मैं शुभ, अशुभ, मन, वचन, काय के समस्त क्रियाकाण्डों से विविक्त हूं।

आत्मा की उपादेयता- भैया ! अपने को न केवल वचन और काय की क्रियावों से रहित होना है, किन्तु आत्मा किस प्रकार की अक्षोभावस्था में दर्शन देता है, उस अक्षोभ प्रयत्न का प्रकरण है। सो जहां मन अपना संकल्प करना न छोड़ दे, रागद्वेष विकल्प वितर्क विचार छोड़ दे और वचन भी अन्तरंग में न उठें, न बाहर बोले जायें तथा यह शरीर भी सर्वक्रियावों को बन्द कर दे, निष्पन्द ऐसा निष्क्रियरूप बन सके तो वहां आत्मप्रभु के दर्शन होते हैं। ऐसी विश्क्षोभ स्थिति में सहज शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता हुआ शाश्वत होकर यह आत्मा ही मेरे लिये उपादेय है-

धन, कन, कंचन, राजसुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ।।

इस दुर्लभ जिनधर्म का अलौकिक लाभ लूटना हो तो चित्त में यह पूर्ण श्रद्धा लावो कि मेरे शाश्वत आत्मा का जो सहजस्वरूप है, उसका दर्शन ही सर्वप्रकार से उपादेय है, वही सच्ची विभूति है।

वास्तविक दरिद्रता- बाहर में क्या है? कदाचित् कभी निर्धनता भी आ जाये और कभी भीख मांगकर भी पेट भरना पड़े तो वह अनर्थ के लिये नहीं है, किन्तु बहुत बड़ी सम्पदा मिल जाये और उसमें यह परिणाम बन जाये कि यही मेरा सब कुछ है। अपने आपके स्वरूप का विस्मरण कर जाये, बाह्य पदार्थों की ओर झुक जाये तो यह दशा अनर्थ के लिये है और दशा वास्तविक दरिद्रता है, इसमें आत्मीयानन्द का लाभ नहीं मिल सकता।

वांछनीय तत्त्व- यह मेरा आत्मा शाश्वत है और यही मेरे लिये उपादेय है। कोई कभी पूछे कि तुम्हें क्या चाहिये? तो अन्तर में यह उत्तर हो कि मुझे तो उस शुद्ध निराकुल ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मतत्त्व का दर्शन चाहिये और कुछ नहीं चाहिये। आखिर कोई संकट न रहे, यही तो सबके मन में बात है ना? ऐसी चीज यदि मिलती है, जिससे कि संकट सदा के लिये दूर हो जायें तो उससे बढ़कर और वैभव क्या हो सकता है? अपनी ही यह कमजोरी है। जो मायामयी जगत् में मायामयी लोगों की वृत्ति निरखकर स्वयं भी तृष्णा बढ़ा लेते हैं, इतनी विभूति हमारे भी होनी चाहिये; किन्तु विभूति वाले विभूति पाकर जब अन्त में मरण निकट आता है तो वे भी पछताते हैं कि हमने अपना कुछ कार्य न किया। धन बढ़ाया, सम्पदा बढ़ायी, सारे ऐब भी किये; पर आज मैं रीता का रीता जा रहा हूं।

जीवन-विडम्बना- जब इस बालक का लोक दृष्ट जन्म हुआ था, तब तो गांठ में बहुत कुछ था, बहुत पुण्य का उदय था। न होता पुण्य का उदय तो पिता, बाबा, चाचा आदि उसे गोद में क्यों लिये फिरते? अत: उस समय बहुत बड़ा पुण्य का उदय था। ये बड़े-बड़े पुरुष खुद को दु:खी कर लेना मंजूर कर लेते हैं, पर बालक को दु:खी नहीं देखना चाहते हैं। यह पुण्य का ही तो उदय था। पर आज इतनी जिन्दगी से जी कर वृद्ध हुए, मरण काल आया, उस समय देखते हैं तो कुछ भी गांठ में नहीं है। इसीलिए यह प्राकृतिक बात बन गई, मानो कवि की कल्पना में कि बालक जब जन्मता है तो मुट्ठी बांधे हुए निकलता है। दुनिया को वह बालक शिक्षा दे रहा है कि पूर्वजन्म में जो तप किया, धर्म किया, उस सबका जो पुण्यबन्ध है, वह हम साथ ले आये हैं और जब वह मरता है तो हाथ पसारकर मरता है। यह मरने वाला भी दुनिया को यह शिक्षा दे रहा है कि देखो इस जिन्दगी में नाना खटपटें करने के बाद अब हम हाथ पसारे जा रहे हैं। जो था, उसे भी हम छोड़कर जा रहे हैं। ये सब विडम्बनाएँ है। मैं उन सब विडम्बनावों से परे शाश्वत ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा हूं।

ज्ञानी का आत्मनिर्णय- मैं कौन हूं? इसका यथार्थ निर्णय होना ही संसार से छूटने का उपाय है। मैं वह नहीं हूं, जो मिट जाये। जो त्रिकाल रहे, वह मैं हूं। मैं वह नहीं हूं, जो किसी अन्य वस्तु से दब जाये अर्थात् अपने स्वभाव और अस्तित्त्व में अन्तर डाल ले। मैं निरूपाधिस्वभाव हूं। मैं वह नहीं हूं, जो प्रतिभास से रहित हो, मैं ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं। रागद्वेष आदिक विभाव एवं अन्य ये सब पर्यायें कुछ जानती नहीं है। राग परिणाम का काम जानना नहीं है। जानना केवल ज्ञानप्रकाश का काम है। यद्यपि हम आप संसारी-जीवों में ज्ञान और राग दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, लेकिन राग मैं नहीं हूं। मैं तो ज्ञान हूं, जो कभी उत्पन्न हो, किसी दूसरे पदार्थ का निमित्त पाकर उत्पन्न हो मिट जाये, वह मैं नहीं हूं। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ये रागादिक भाव तो ज्ञानस्वरूप के विरूद्ध हैं। मैं तो ज्ञान की वृद्धि का ही स्रोतभूत जो ज्ञानस्वभाव है, वह हूं। मैं कारणपरमात्मा हूं अर्थात् परमात्मतत्त्व जो प्रकट होता है, वह इस मुझ कारण का ही व्यक्तरूप है, कुछ अन्य तत्त्व नहीं है। मैं एक हूं, शाश्वत हूं, ज्ञानदर्शनरूवरूप हूं। अन्य जितने भी भाव हैं, वे सब मुझ पर लादी हुई चीजें हैं, उन स्वरूप मैं नहीं हूं। चाहे बाह्यपरिग्रह हों और चाहे रागादिक अन्तरंग परिग्रह हों- ये सब थापे गये तत्त्व हैं। शुभ और अशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होते हैं। वे शुभ व अशुभ मेरे स्वरूप से बाह्य हैं। ऐसा ज्ञानी का परमनिर्णय है।

लौकिक बड़प्पन से शान्ति का अलाभ- लोग अपने को भूलकर बाह्य स्त्री आदिक, धन-सम्पदा आदिक चेतन-अचेतन परिग्रहों में झुके जा रहे हैं, आकर्षित हो रहे हैं। इन व्यामोही जीवों ने अपने प्रभु पर कितनी विडम्बना लाद ली है? यह तो केवल ज्ञानस्वरूपमात्र है, ऐसा अनुभव, ऐसा निर्णय जब तक कोई नहीं कर सकता है। वह चाहे लोक में कितना ही बड़ा बन जाये, धर्म के नाम पर व्रत, भक्ति, पूजा आदिक करके कितना ही आपका लोक में बड़प्पन दिखाये, पर शान्ति नहीं हो सकती है। शान्ति तो शान्ति के ढंग से आ सकेगी। वह ऊपरी दिखावे से नहीं आ सकती है।

उत्तरोत्तर दुर्लभ स्थिति की प्राप्ति और कर्तव्य- हम आप तो अनेक जीवों की अपेक्षा बहुत बड़ी स्थिति में हैं। प्रथम तो निगोद से निकलना ही कठिन था, फिर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति से भी निकलना कठिन रहा। वहां से निकलकर त्रसपर्याय में आये। दोइन्द्रिय से तीनइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय से चारइन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय से संज्ञीपंचेन्द्रिय होना उत्तरोत्तर कठिन है। संज्ञीपंचेन्द्रिय में भी मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ बात है। ध्यान में लायें कि हम कितनी ऊँची दुर्लभ स्थिति में आ गये हैं? मनुष्यों में भी श्रेष्ठ धर्म मिलना, पवित्र कुल मिलना, अच्छा समागम मिलना, शास्त्रों की बात समझने की बुद्धि आना और कुछ धर्म में रुचि होना- ये कितनी उत्तरोत्तर दुर्लभ बातें हैं? हम और आप इतना तक प्राप्त कर चुके है। अब केवल एक ही हिम्मत बनाने की जरूरत है। वस्तुस्वरूप को स्वतन्त्र यथार्थ जानकर एक बार समस्त परपदार्थों का विकल्प तोड़कर जो संग मिला है, घर आदिक जो समागम हैं, उन सबको उतना ही भिन्न मानकर, जितने भिन्न दुनिया में और लोगों के मकान आदि हैं, उतने ही भिन्न मानकर केवल अपने आपके इस ज्ञानस्वरूप की महिमा पायें तो स्वयं ही अद्भूत अलौकिक ऐसा आनन्द प्रकट होगा कि संसार के संकट काटने का मार्ग पा लिया जायेगा और उसी समय से अद्भूत आनन्द प्राप्त होगा।

अज्ञानियों की भीख- भैया ! परपदार्थों की आशा रख-रखकर कुछ अपनी इज्जत बनायी, तृप्ति बनायी तो उसमें कौनसी शान है? भीख मांगकर तो भिखारी भी पेट भर लेते है, ऐसे ही लोगों से इज्जत की भीख मांगकर कुछ इज्जत का बनावटपन करें भी लोग, तो उसमें कौनसा यज्ञ जीत लिया? धनसंचय की होड़ लगाना, और भी लौकिक पोजीशन के बढ़ाने में होड़ लगाना- यह क्या है? यह लोगों से भीख मांगना ही तो है। किसी प्रकार लोग यह जान जायें कि यह बहुत बड़ा पुरुष है। अरे, लोगों के इस प्रकार जान जाने से मिल क्या जायेगा और अब तक मिला भी क्या है? हां में हां मिलाने वाले लोग, आपके मन को राजी रखने वाले लोग तब तक के लिये साथी हैं, जब तक आपके निमित्त से उनका कुछ स्वार्थ भी सधता है। आशा रखो तो अपने आत्मदेव की तथा जो शुद्ध आत्मा हुए हैं, परमात्मा हुए हैं, उनके शुद्ध गुणों की दृष्टि करें। शुद्ध आत्मा के शुद्ध गुणस्मरण की आशा करें, उससे तो लाभ होगा; किंतु जो स्वयं आरक्षित हैं, मिट जाने वाले हैं, गंदे आशय के हैं- ऐसे लोगों की आशा करने से लाभ की तो कथा ही छोड़ो, बल्कि उल्टी बरबादी ही बरबादी है। ये समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह मेरे स्वरूप से अत्यन्त भिन्न हैं।

परमार्थ चिन्तामणि- यह मेरा परमात्मा, यह ज्ञानस्वरूप, यह शुद्ध चित्प्रकाश, यह क्षोभरहित सर्वश्रेष्ठ तत्त्व शाश्वत है, एकस्वरूप है। यही वास्तविक चिंतामणि है, जिसकी दृष्टि में आने पर सभी चिंताएं, सभी संकट समाप्त हो जाते हैं। भैया ! रहना तो कुछ है ही नहीं, यह तो निश्चित है। जो कुछ भी जोड़ा है, कमाया है, रक्खा है, जिसमें बुद्धि अटकती

है, एक अणुमात्र भी नहीं रहना है। न रहे, इतना ही नहीं, बल्कि इसके कारण बहुत बुरी तरह से संक्लेश होता है और मरण भी बिगड़ता है। लाभ ही न करें, केवल इतनी ही बात नहीं है, बल्कि बाह्यसम्बन्ध तो ये बरबादी करते हैं। कितना व्यर्थ का काम है?

दुर्बुद्धि में अनर्थ- पुण्योदयवश न चाहते हुए भी, यथार्थदृष्टि रखते हुए भी जो कुछ सम्पत्ति आती है, वह तो बिगाड़ का कारण नहीं बनती, किंतु जिसे चाह-चाहकर जोड़ा है, वह सम्पदा अवश्य ही बिगाड़ का कारण होती है। जैसे लोग कहते हैं कि न्याय की कमाई हो तो पैसा धर्म में लगता है, अन्याय से जो कमाई हो तो वह पैसा धर्म में नहीं लग पाता है। वह तो यों ही बिखर जाता है। उसका भी यही मर्म है कि जिस पुरुष ने न्यायबुद्धि नहीं रखी है, उसमें ऐसी सुमति कैसे जग सकती है कि वह धर्म कार्य में भी कुछ लगा सके? कुछ पैसे की ही बात नहीं है कि पैसे में न्याय और अन्याय खुदे हुए हैं। न्याय-अन्याय तो पुरुष की भावना में है। जो पुरुष अन्याय करके धनसंचय करते हैं, उनको यह ज्ञानप्रकाश नहीं मिल पाता कि धन का सदुपयोग कर सकें। ज्ञानी पुरुष ही यह साहस कर सकता है कि सम्पदा आये अथवा न आये, यहां तो कुछ हैरानी नहीं है।

जीवन का विशुद्ध ध्येय- भैया ! ज्ञानी का निर्णय है कि मुझे दुनिया में अपना नाम नहीं करना है, क्योंकि वह व्यर्थ की बात है। मुझे इस शरीर को आराम से नहीं रखना है, क्योंकि इसमें मेरा क्या पूरा पड़ेगा? विषयों के नाना साधन जुटाकर मुझे दिल की तफरी नहीं करनी है, क्योंकि उससे मेरा कुछ लाभ नहीं है। तब फिर सम्पदा आये तो और न आये तो, जो भी परिस्थिति सामने होगी, उसमें ही मेरी व्यवस्था होगी। मैं परिग्रही बनने के लिये मानव-जन्म में नहीं आया हूं। सदा के लिये संसार-संकट मिटा लेने के लिये मैं मानव हुआ हूं। जिस पुरुष का ध्येय विशुद्ध हो जाता है, उसे फिर व्यवहार में विडम्बना नहीं होती है।

अकर्तृत्व का आशय- लोककल्पित लक्ष्मी को कौन कमाता है? सब उदय की चीज है। जब आती है, तब वेग से आती है और जब जाती है तो एकदम से चली जाती है। आने में फिर भी कुछ क्रम है, सिलसिला है पर जाने में तो कोई सिलसिला भी नहीं है, किसी भी समय एक साथ भी चली जायेगी। जाये तो जाये, उससे तो हमें कुछ मतलब नहीं है। हमारा शरण तो परमात्मभक्ति है और परमार्थशरण तो मेरे यथार्थस्वरूप का आलम्बन है। मोही जन यह निरखकर दु:खी होते हैं कि मैंने इसको ऐसा पाला-पोसा इसकी मदद की और यह किसी भी बात पर मुझसे विमुख हो जाता है, ज्ञानी इस प्रकार की भावना नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि मैंने केवल अपनी भावना बनाने के सिवाय और कुछ नहीं किया। मैं दूसरे पदार्थ में कुछ नहीं कर सकता हूं। वह भ्रम नहीं करता कि मैंने अमुक का उपकार किया या अमुक को आराम दिया। वह तो शुद्ध ही समझ रहा है कि मैंने केवल अपना भाव ही बनाया व उस भाव का ही प्रयत्न किया। जीव केवल भाव करता है। बाहरी चीजों का जुड़ना, बिछुड़ना ही तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश हो रहा है।

तकदीर- एक ऐसी किम्वदन्ती है कि एक बार ब्रह्म किसी की तकदीर बना रहे थे। तकदीर में लिख रहे थे 5) और काला घोड़ा। वहां से गुजरते हुए एक साधु ने पूछा कि " ब्रह्माजी ! आप क्या कर रहे हो?" ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि "मैं एक लड़के की तकदीर बना रहा हूं।" "तकदीर में क्या लिख रहे हो?" " काला घोड़ा और 5)।" "किसके यहां पैदा करोगे?" "अमुक करोड़पति के घर।" "महाराज ! ऐसा क्यों करते हो? जब करोड़पति के यहां पैदा करते हो तो उसका भाग्य करोड़पति के भाग्य जैसा बनावो या फिर किसी गरीब के यहां पैदा कर दो।" इस पर ब्रह्मा ऐंठकर बाले कि "तुम्हें इससे क्या मतलब? जो हमें करना होगा, वही करेंगे।" साधु भी अकड़कर बोला कि "अच्छा, तुम्हें जो लिखना है, वह लिख लो, हम तुम्हारी इस तकदीर को मिटा कर रहेंगे।" कालान्तर उस लड़के का जन्म एक करोड़पति के घर हो गया।

भैया ! अब हम इस कथा का सार कह रहे हैं- कोई ब्रह्मानाम का पुरुष किसी के भाग्य की रचना करने वाला नहीं है, सब कर्मों की रचना है। आप चाहे ब्रह्मा की जगह कर्म शब्द प्रयोग कर लो। जब लड़का करोड़पति के घर में पैदा हो गया तो उसकी सारी सम्पत्ति बिकने लगी। थोड़े ही दिनों में सारी सम्पत्ति समाप्त हो गई और जो फिर भी शेष रह गई, वह दिन प्रतिदिन समाप्त होने लगी। जब लड़का 15-16 वर्ष का हुआ तो उसके पास एक झौंपड़ी, एक काला घोड़ा और 5) रह गये। सब कुछ ब्रह्माजी के कथनानुसार हो रहा था।

तदवीर- कालान्तर एक दिन वे साधु उधर से गुजरे और उनके मस्तिष्क में सारा घटनाक्रम घूम गया। वे तुरन्त उस लड़के के पास गये। उस लड़के ने साधु को देखकर उन्हें आदरपूर्वक बैठाया और बोला कि "महाराज ! मेरे योग्य सेवा बताइये।" साधु बोले कि "बेटा ! तेरे पास क्या है?" लड़के ने सविनय उत्तर दिया कि "काला घोड़ा और 5) ।" "अच्छा काला घोड़ा बाजार में बेच आवो।" वह लड़का घोड़े को 100 में बेच आया। साधु ने लड़के से कहा कि "अच्छा, 5) और 100) दोनों को मिलाकर बाजार से आटा, घी, शक्कर आदि मंगाकर उनकी पुड़ियाँ बनवाकर गांव के सब लोगों को खिला दो।" लड़के ने वैसा ही किया और इस प्रकार सारे रुपए खर्च हो गये। ब्रह्माजी ने सब कुछ जानकर दूसरे दिन फिर 5) और काला घोड़ा लड़के के पास भेज दिये। साधु ने फिर घोड़े को बिकवा दिया और पहिले दिन की ही तरह से किया। इस तरह से होते-होते 15 दिन बीत गये। अन्त में ब्रह्मा ने हार मानकर साधु से कहा कि "साधुजी ! जैसा तुम कहो, वैसा करूँगा, पर हमारा पिंड छोड़ो। हम 5) तो रोज दे दिया करेंगे, पर रोज-रोज घोड़ा कहां से लायेंगे?" "अच्छा, इसका भाग्य जैसा में कहूं लिखो।" ब्रह्मा ने साधु के कथनानुसार लड़के का भाग्य लिख दिया।

आत्मकल्याण की चिन्त्यता- भैया ! क्या ये हाथ पैर कुछ कमाते हैं? सब झूठ है, सब भावना की तारीफ है। जिसकी जितनी पवित्र भावना होगी, वह कभी निष्फल न जायेगी। चाहे सारी सम्पदा कोई कहीं लगा दे, पर जो पुण्य कर्मबन्ध होता है, उसमें वृद्धि ही होगी, कमी न होगी। किसी न किसी रूप से, किसी न किसी ढंग से वह पुण्य-सुख आगे आयेगा, उसकी चिंता में समय न गुजारो। चिंता करो तो भी उतना ही आता है और चिंता न करो तो भी उतना ही आता है। चिंता करने से बाह्यवस्तुवों में हमारा कुछ असर नहीं हो सकता। आत्मकल्याण की चिंता करें तो कुछ असर

भी हो सकता है। यह कल्याण सम्बन्धी चिंता की बात हमारे हाथ है, परन्तु परपदार्थ सम्बन्धी चिंता की बात हमारे हाथ नहीं है। यही एक कारणपरमात्मतत्त्व चिंतामणि है, जिसकी दृष्टि में आने पर हमारी तुम्हारी समस्त चिंताएँ दूर हो जाती हैं।

कर्तव्य और अकर्तव्य- यह मैं आत्मा शुद्ध हूं, अलौकिक दिव्य ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं, तब फिर बाह्यपदार्थ की ओर दृष्टि देना, ध्यान बनाये रहना- यह निष्फल है, मुझ जैसे श्रेष्ठ तत्त्व के लिये करणीय बात नहीं है। बड़े कुल का बालक कोई निंद्य काम करे तो उसे समझाते हैं कि तू बड़े कुल का है, कहीं ऐसा निंद्य काम तुझे करना चाहिये? जरा दृष्टि पसारकर तो देखो, सर्वपदार्थों में यह चेतन पदार्थ महान् श्रेष्ठ वस्तु है। जिसका इतना महान् चैतन्य कुल है, सारे विश्व का ज्ञाता रहे और शुद्ध अनन्त आनन्द में लीन रहे- ऐसे विशुद्ध कुल का होकर भी इन चेतन अचेतन असार बाह्यपदार्थों में आसक्त रहना तुझे शोभा नहीं देता। ये सब विडम्बनाएँ तेरे करने योग्य नहीं हैं।

एकत्व के आलम्बन का प्रभाव- यह ज्ञानी पुरुष अपने यथार्थस्वरूप का यथार्थनिर्णय कर रहा है। मैं एक हूं, अद्वैत हूं, समस्त परपदार्थों से, परभावों से विविक्त हूं, सदा रहने वाला हूं, प्रभुस्वरूप हूं, सच्चिदानन्दमय हूं, मेरा नाता केवल मेरे से ही है, मुझको छोड़कर बाह्य में अणुमात्र भी मेरा नहीं है। यों यह ज्ञानी अपने एकत्वस्वरूप की ओर झुक रहा है। इसी स्वरूप के आलम्बन में निश्चयप्रत्याख्यान होता है, तब जो परभाव हैं, वे सब इस अन्तरात्मा से दूर हो जाते हैं।

गाथा 103

जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोस्सरे।

सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं।।103।।

दुश्चरित्र के प्रत्याख्यान का संकल्प- निश्चयप्रत्याख्यान के परमभाव को लिये हुए ज्ञानी संत अपने आपमें शिवसंकल्प कर रहे हैं कि जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र हुआ हो, उस दुश्चरित्र को मैं मन, वचन, काय से परित्याग करता हूं। ज्ञाताद्रष्टा रहना तो सत्चरित्र है, इसके विपरीत जितनी भी रागद्वेषमय वृत्ति है, वह सब आत्मा का दुश्चरित्र है। लोक में दुश्चरित्र मोटे पाप को कहते हैं। किसी की चोरी कर ली, किसी का धन हड़प लिया, किसी की मारपीट कर दी- इसे दुश्चरित्र कहते हैं; किंतु अध्यात्ममार्ग में, हितपंथ में रोड़ा अटकाने वाली जितनी भी रागद्वेषमय प्रवृत्तियां हैं, वे सब परमाध्यात्म की दृष्टि में दुश्चरित्र हैं, क्योंकि वे सब अपने आपमें दोष हैं। मेरा गुण वह है, जो मेरे ही सत्त्व के कारण, पर की उपाधि के बिना अपने आप हो। जो परोपाधि पाकर होता है, वह नियम से स्वभाव के विपरीत परिणमन होता है। कालद्रव्य सबके परिणमन में निमित्त है, किंतु उसमें उपाधिपना नहीं है। पर की उपाधि से कोई भलापन नहीं आता, बल्कि कुछ ऐब ही आते हैं। भले ही उन ऐबों में से बड़े ऐब के मुकाबले छोटे ऐबों को गुण मान लिया जाये; पर वे सब ऐब हैं, दोष हैं, जिनमें रागद्वेष का किसी भी प्रकार लवलेश हो।

साकारवृत्ति का निराकारवृत्तिकरण- यह भेदविज्ञानी परमतपोधन संत चिंतन कर रहा है कि पूर्वकाल में संचित कर्मोदय के कारण, चारित्र-मोह का उदय होने पर जो कुछ भी दुश्चरित्र बना हो, उस सबका मैं मन, वचन, काय का शुद्धिपूर्वक परित्याग करता हूं और समतापरिणाम करता हूं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को मैं निराकार करता हूं, सामायिक को निराकार करता हूं। जब तक कोई विकल्प है, भेददृष्टिपूर्वक प्रभु का स्मरण है, तब तक वह सामायिक साकार है। जब विकल्परहित अभेदस्वरूप का अनुभव है, पूर्ण समता है, तब सामायिक निराकार है। साकार सामायिक उत्कृष्ट नहीं होती, उसमें आकार बसा हुआ है, कुछ ध्यान कर रहा है, किसी का ध्यान कर रहा है, भेद भी है, विकल्प भी है और इसी कारण चंचलता भी है, वे सब ध्यान बदलते रहते हैं। यह साकार ध्यान हैं। जहां आकार न रहे, विकल्प न रहे, यों कह लीजिए कि जैसे लोग खबर रखा करते हैं ऐसी खबर न रहे, केवल एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश का ही अनुभव चले, उस स्थिति को कहते हैं निराकार कर देना। अपने को साकार करना बुरा है और निराकार करना अच्छा है, पर अज्ञान में जीव साकार रहने में खुश हैं। निराकार की तो उनकी दृष्टि ही नहीं है।

साकारभक्ति का निराकार भक्तिकरण- मैं इस भेदात्मक प्रभुभक्ति को अभेदरूप निराकार करता हूं। हमारी पूजा तब तक साकार है जब तक अपनी खबर हो, प्रतिमा की खबर हो, मंदिर में खड़े हैं तो इसकी भी खबर है कौनसा पद पढ़ रहे हैं यह भी खबर है, हम क्या चढ़ा रहे हैं यह भी खबर है, वह सब साकार-पूजा है। ऐसी पूजा करते हुए किसी क्षण ये सब ख्याल छूट जायें, यह भी ख्याल न रहे कि मैं कहां हूं? सामने क्या है? केवल एक शुद्ध ज्ञानपुन्ज, जिसकी प्राप्ति के लिये, जिसकी दृष्टि के लिये यह पूजन किया जा रहा है, वह ज्ञानज्योतिमात्र ही प्रकाश में रहे तो वह हो गई निराकार पूजा। साकार पूजा प्राक् पदवी में आवश्यक है। साकार पूजा में अधिक समय व्यतीत है, होना ही चाहिए, पर पूजा करने वाले की यह दृष्टि है कि मैं यह साकार पूजा कर रहा हूं और निराकार पूजा चाहता हूं- ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह साकार पूजा करते हुए भी किसी क्षण उस निराकारस्वरूप की झलक पा सकता है। जिस क्षण निराकारस्वरूप की झलक पाई, वहीं निराकार पूजा में उतर गया। यहां निराकार पूजा का अर्थ यह नहीं है कि द्रव्य से पूजा छोड़कर की जाये या द्रव्य से की जाये, चाहे द्रव्य का आलम्बन लेकर करें अथवा द्रव्य का आलम्बन न लेकर करें। भेदपूर्वक गुणस्मरण करते हुए जिस काल उस अभेद आत्मतत्त्व का दर्शन हो, बस वहीं निराकार पूजा होती है।

साकार रत्नत्रय का निराकारीकरण- साकार पूजा, साकार भक्ति, साकाररत्नत्रय- ये सब अनुत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं। जहां आकार का विलय हो जाता है, वह उत्कृष्ट हित की अवस्था है। 9 पदार्थों का श्रद्धान करना, 7 तत्त्वों की प्रतीति रखना, यह मैं आत्मा हूं, ये सब परद्रव्य हैं- इस प्रकार का भेदज्ञान रखना, महाव्रत पालते हुए मुझे समीतिपूर्वक चलना चाहिये- ऐसी वृत्ति करना इत्यादिरूप भेदरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का होना- यह सब साकार रत्नत्रय है। जब निज सहजस्वरूप का ही झुकाव हो, उसका ही परिज्ञान हो और ज्ञाताद्रष्टा रहकर उसका ही निर्विकल्पानुभव हो, वह है निराकार रत्नत्रय की विधि। मैं इस साकार रत्नत्रय को निराकार रत्नत्रय करता हूं। ऐसे इस प्रत्याख्यान के प्रसंग में ज्ञानी पुरुष अन्तर में शिवसंकल्प कर रहा है।

सर्वज्ञानियों के प्रायोजनिक श्रद्धा की समानता- सभी ज्ञानी मनुष्य गृहस्थ हों अथवा प्रमत्तावस्था के साधुजन हों, क्षयोपशम प्राय: समान रह सकता है, ज्ञानधारा भी समान रह सकती है, श्रद्धान भी समान रहता है। अब अध्यात्म आचरण की बात है, उसमें इतना अन्तर हो जाता है कि गृहस्थजन चूँकि अनेक कार्यों में व्यस्त हैं, परिग्रह उन्होंने रखा है। इस समागम में यह प्राकृतिक बात है कि श्रद्धान् किए हुए और सम्यक् पारिज्ञात किये हुए कारणपरमात्मस्वरूप में चित्त स्थिर नहीं रह सकता है और जिसने बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त पारिग्रहों का त्याग किया है, उनमें यह स्वाभाविक बात हो जाती है कि बाह्य की ओर से विकल्प हट जाता है और वे इस सहज शुद्ध आत्मतत्त्व की स्थिरता के पात्र होते हैं तथा निराकार दर्शन का रूप रखने के वे पात्र होते हैं। उनके निराकार दर्शन का समय अधिक रह सकता है, इसलिये हितप्रगति में साधुव्रत आना अनिवार्य है, परन्तु स्वाद का परिचय दोनों को हो गया।

स्थिरता का भेद होने पर भी स्वादसाम्य- जैसे कोई अमीर पुरुष सेरभर मिठाई खरीदकर खाये और कोई गरीब पुरुष वही मिठाई 1 छटांक लेकर खाये तो स्वाद तो दानों को वही आया। अन्तर इतना रहा कि अमीर ने छककर खाया और गरीब को केवल स्वाद मिला। यों ही सम्यग्दृष्टि गृहस्थजन भी उस तत्त्व का स्वाद तो जीतते हैं, जिस तत्त्व के स्वाद में साधुजन छके रहा करते हैं; पर ये गृहस्थ के झंझटों में, आजीविका के साधनों में, विकल्पों में बसे रहने के कारण उस स्वाद को जानते तो हैं, किंतु स्थिरता के लिये तरसते हैं। गृहस्थ का नाम उपासक है। जो मुनिधर्म की उपासना करे, भावना रखे, उसे उपासक कहते हैं, क्योंकि मुनिधर्म की उपासना करके उस निष्परिग्रही अवस्था में ही इस पवित्र झलक को स्थिर रखा जा सकता है और फिर वह श्रेणी पायी जा सकती है, जिसकी सुन्दर धारा को पाकर यह जीव मुक्त हो सकता है।

सकलपापप्रत्याख्यान का संकल्प- यह प्रत्याख्याता पुरुष अपना संकल्प कर रहा है कि जो कुछ भी मुझसे दुश्चरित्र हुआ है, उसका मैं मन से त्याग करता हूं, वचन से त्याग करता हूं और काय से त्याग करता हूं। ऐसे दुश्चरित्र को न मन से करूँगा, न वचन से करूँगा और न काय से करूँगा। अब इन बाह्य वृत्तियों को न मन से कराऊँगा, न वचन से कराऊँगा और न काय से कराऊँगा। इन क्षोभमयी कषाययुक्त वृत्तियों को न मन से अनुमोदूंगा, न वचन से अनुमोदूंगा और न काय से अनुमोदूंगा। पाप किये जाने की विधियां 108 प्रकार की होती है। पापकार्य करना, पापकार्य करने के साधन जुटाना, पापकार्य का संकल्प करना- ये तीन पापमय वृत्तियां हैं। प्राय: ऐसा होता है कि जब कोई मनुष्य पापकार्य करता है तो प्रथम पापकार्य करने का संकल्प आता है, फिर उन कार्यों के साधन जुटाता है, फिर पापकार्य करता है। इन 3 पापों का नाम है संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ। ये तीन प्रकार के पाप क्रोध के वश किये जाते हैं, मान, माया और लोभ के वश किये जाते है। अत: ये पाप 12 प्रकार के हो गये। क्रोध से किया संरम्भ, मान से किया संरम्भ , माया से किया संरम्भ और लोभ से किया संरम्भ, इसी तरह 4 समारम्भ और 4 आरम्भ- ये 12 प्रकार के पाप मन से भी किये जा सकते हैं, वचन से भी किये जा सकते हैं और काय से भी किये जा सकते हैं, तब ये 12×3=36 हुए। ये 36 प्रकार के पाप किए हुए, कराए हुए और अनुमोदे हुए, तब कुल 36×3=108 प्रकार के पाप हुए। ये प्रत्याख्याता पुरुष 108 प्रकार के पापों के भविष्य में न किए जाने का संकल्प कर रहा है।

यथार्थ होने पर ही निराकारवृत्ति की पात्रता- सर्वथा निष्पापावस्था निराकारावस्था होती है। ये विचार, विकार, विकल्प आदि इस विभाव सहज चैतन्यप्रभु का घात करने वाले होते हैं। इस कारण उस दृष्टि में ये सब दुश्चरित्र हैं। कोई कम है, कोई अधिक है; कोई अधिक विडम्बना में डालने वाला है कोई कम विडम्बना में डालने वाला है। जहां शिवमार्ग पाने की पात्रता भी रह सकती है, ऐसे मन्द भी अनेक प्रकार के दोष हैं, लेकिन ये दोष ही हैं- ऐसा इस ज्ञानी को विदित है। जिस ज्ञानी की दृष्टि में यह बात समाई हुई है कि मैं पूजता हूं और इस भगवान को पूजता हूं- ऐसे पूजक और पूज्य में दो जगह दूर-दूर खड़े हुए इतना भेद डाला गया हो तो वह विकल्प भी दोष है। इतना सूक्ष्ममर्म तक जिस ज्ञानी को विदित है, वह ज्ञानी ही विकल्प भाव त्यागकर निर्विकल्पस्वरूप में पहुंच सकता है।

गृहस्थजनों को शिक्षण- भैया ! श्रद्धा सब सम्यग्दृष्टियों की मोक्षमार्ग में एकसी होती है- चाहे गृहस्थ हो और चाहे साधु हो और इतना ही नहीं, बल्कि चाहे पशु-पक्षी भी हो। जो भी सम्यग्दृष्टि है, उन सबका निर्णय आत्महित के बारे में एक प्रकार का है। तिर्यंच उस मोक्षमार्ग पर नहीं चल पाते हैं, गृहस्थ मोक्षमार्ग पर कुछ-कुछ चल पाते हैं, साधुजन खूब चल लेते हैं, पर श्रद्धान् सबका एक समान है कि आत्महित इस अवस्था में है। उस उपाय का, उस अवस्था का श्रद्धान् सब ज्ञानी जीवों के बराबर बना हुआ है। यहां साधुजनों को उपदेश है इस ग्रन्थ में। ये साधु ही यहां संकल्प कर रहे हैं, पर साधुवों की बात को जानकर गृहस्थजन भी तो कुछ शिक्षा लिया करते हैं। यह साधु परमयोगी, भेदविज्ञानी, आध्यात्मिक तपस्वी चिंतन कर रहा है कि मैं इन सब वृत्तियों को निराकार करता हूं। जो भेदरूप 9 पदार्थों का श्रद्धान् है, अनेक प्रकार से स्वरूप का परिज्ञान है और जो कुछ भी साधुजन आचरण करते हैं, व्रत पालते हैं, नियम करते हैं, उन सबको मैं निराकार करता हूं, एक अपने ब्रह्म में लीन होना चाहता हूं- ऐसी भावना वह साधु कर रहा है।

उपास्य के ज्ञान से उपासक की दृढ़ता- भैया ! हम क्यों इस विषय को जानें, क्यों साधुवों की भीतरी कला को परखें? उसका प्रयोजन यह है कि जब तक इस महान् पवित्र कार्य के किए जाने का संकल्प न हो तब तक गृहस्थावस्था में गृहस्थ के योग्य किए जाने वाले धर्मकार्य भी उत्तम रीति से नहीं हो सकते है। भगवान के स्वरूप का यथार्थपरिचय न हो तो हम बाहरी क्रियावों से भक्ति-पूजन, गीत, नाचगाना, और और भी समारोह सब कुछ करें, पर मोक्षमार्ग तो नहीं मिल सकता। बस इतना लाभ है कि घर की विषय-कषाय यहां दबी हुई हैं। कभी-कभी तो मंदिर में रहकर भी क्षोभ उखड़ सकता है, यह तो भीतरी मन की बात है। खैर, दबी सही, इस समय विषय-कषाय भूले हुए हैं और एक धर्म के नाम पर शुभोपयोग में लगे हुए हैं और ऐसा किया भी जाना चाहिए; किंतु उस ज्ञानी को यह सब विदित है कि मुझे वास्तव में करना क्या चाहिए?

व्यवहारसाधना की आवश्यकता- कोई पुरुष ऐसा सोचे कि मन्दिर दर्शन करने जाते है तो वहां बीसों आदमी होते हैं, मन ही वहां पर नहीं लगता, प्रभु के स्वरूप पर वहां चित्त ही नहीं जमता तो मन्दिर जाने से क्या लाभ है? ऐसा सोचकर बैठ जायें तो बतावो ऐसे मन्दिर आना छोड़ देने से क्या लाभ पाया? अरे, इन प्रसंगों में लगे रहने से नहीं भी मन लग रहा है, पर रोज-रोज दर्शन, भक्ति करने के सिलसिले में कोई दिन ऐसा भी आ सकता है कि हमें सत्य निराकारस्वरूप का दर्शन भी हो जाए और शिक्षा की बात भी मिलती रहे। इस कारण ये बाह्यचारित्र, बाह्यश्रद्धान्,

बाह्यज्ञान भी आवश्यक है, पर इतनी बात और समा जाए कि इन सब बातों के करने का ध्येय तो यह निराकार दर्शन है, परमविश्राम है, इससे सभी आचरणों में बल आ जाता है।

धर्मसाधक की सामान्य में आस्था- प्रत्याख्यान के प्रसंग में ज्ञानी उन समस्त शुभ-अशुभ विभावों का परित्याग करके स्वभाव की उपासना का संकल्प ठान रहा है। यह स्वभाव त्रिकाल निरावरण सामान्यस्वरूप है। विशेष का आलम्बन छोड़कर यह साधक सामान्य की ओर आ रहा है। लोक में असर विशेष का है सामान्य का नहीं है, किन्तु धर्ममार्ग में आदर-सामान्य के अवलम्बन का है, विशेष का नहीं। यह लोकव्यवहार विभावक्रियावों से भरा हुआ है और यहां परमार्थतत्त्व की चूंकि खबर नहीं है, इसलिए वे व्यवहारीजन विशेष-विशेष स्थितियों में बड़प्पन माना करते है। कोई विशेष धनी हो अथवा विशेष नेता हो अथवा विशेष काम करने में कुशल हो अथवा विशेष धनवान हो उसका आदर होता है, लोग उसे महत्त्व देते हैं कि यह गांव का प्रमुख है, धनी है, प्रतिष्ठा वाला है, जो यह करता है सो होता है आदिक विशेष-विशेष स्थितियों का सम्मान किया जाता है; लेकिन अध्यात्मक्षेत्र में ये सब विशेष स्थितियां मोक्षमार्ग में साक्षात् साधक नहीं हैं। यहां तो जो भी जितना परपदार्थों का मूल करके केवल एक निज ज्ञानस्वरूप में रमेगा, उतना ही उसका कल्याण है और बड़प्पन है। फलत: धर्मसाधना करने वाले की स्थिति विशेष से हटकर सामान्य की ओर रहती है।

निर्गुणवर्तना- यह प्रत्याख्यानकर्ता अपने में शिवसंकल्प कर रहा है कि मैं इस व्यवहारसामायिक को, साकारसामायिक को निराकार करता हूं और भेदरूप चारित्र को अभेदरूप करता हूं। 5 महाव्रतों का पालन करना, 5 समीतियों का धारण करना, गुप्तियों का सेवन करना, प्रभुभक्ति करना, प्रतिक्रमण करना, शास्त्र सुनाना- ये समस्त धर्म के काम हैं, चारित्र के काम हैं, भेदरूप हैं। इस भेदरूप चारित्र को मैं अभेद चारित्र करता हूं अर्थात् वह भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म करने की बात न रखकर केवल एक अभेद ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्व को धारण करता हूं। इस प्रकार यह सबको निराकार बना रहा है। अन्य लोग भी सगुणब्रह्म और निर्गुणब्रह्म इनका भेद रखकर सगुणब्रह्म से श्रेष्ठता निर्गुणब्रह्म की कहते है। सगुण का अर्थ है कि जहां भेददृष्टि हो और निर्गुण उसे कहते हैं कि जिसके भेदभाव टल जाएँ और अभेद शुद्ध अर्थ परिणमन रहें।

गुण का रहस्य- गुण-गुण सब कोई कहते हैं, पर यह गुण शब्द कैसे बना है और इसका असली अर्थ क्या है? अब इसे परखिये। जिन बातों से भेद डाला जाए, अन्तर बताया जाए, विशेषता बतायी जाए, उसे गुण कहते हैं। विशेषता भेद से ही तो बतायी जाएगी। भेद से ही विशेषता होती है, भेद से ही गुण निरखे जाते हैं। यह मैं आत्मा स्वयं अपने आप कैसा हूं? इसका निर्णय करने बैठे तो जैसा है, वैसा बताया भी नहीं जा सकता। जैसे कोई मिश्री खाये तो उसका स्वाद कोई बताया जा सकता है क्या? सही मायने में यथार्थ कोई नहीं कह सकता है? उसे कोई कहना चाहेगा तो भेद करके कहेगा कि शक्कर से अधिक मीठी है अथवा कोई भेदव्यवस्था बतावेगा। देखो, शक्कर में भी कुछ मल है, उस मल को भी दूर करके जो मिश्री बनती है, वह समझ लो कि कितनी मीठी होगी? अत: मुकाबला बताकर भेद डालकर ही वर्णन किया जा सकता है। यथार्थ जैसा है, उसका वर्णन करना कठिन है। आत्मा स्वयं कैसा है?

सर्वविकल्पों को दूर करके परमविश्राम में रहकर अपने आपमें इस आत्मतत्त्व का अनुभव तो किया जा सकता है, पर बताया नहीं जा सकता है। उसको बताने की पद्धति गुणभेद है। देखो, जो जाने, सो आत्मा। तो क्या आत्मा केवल जानता है, इतनी ही बात है क्या? इसमें क्या श्रद्धा नहीं है? सब है और इसके अलावा यह आत्मा सूक्ष्म है, अमूर्त है, असंख्यातप्रदेशी है, कितनी ही बातें बतायी जायेंगी, लेकिन उन सब भेदों में जो एक प्रमुख बात है, गुण है, जिस गुण की वृत्ति के द्वारा सर्वगुणों की व्यवस्था बनायी जाती है, उस ज्ञानगुण का नाम लेकर आत्मा की पहिचान करायी जाती है।

सामान्य के आश्रय में शान्ति- प्रत्येक पदार्थ अपने में अद्वैतस्वरूप है, अभेदरूप है। उन अद्वैतपदार्थों का प्रतिपादन द्वैतीकरण के बिना नहीं हो सकता, भेद करके ही बताया जाएगा। तो जब हम भेद करने की ओर आते हैं तो क्षोभ, रागद्वेष, कल्पना, विकल्प हुआ करते हैं और हम जितना अभेद की ओरआते हैं, उतना ही रागद्वेष, कल्पना, विकल्प, विचार सब शान्त हो जाते हैं। तो शांति का सम्बन्ध सामान्य के अवलम्बन के साथ है, विशेष के अवलम्बन के साथ नहीं है। हां इतनी बात और है कि उन विशेष-विशेषों में मुकाबलेतन किसी विशेष की अपेक्षा कोई विशेष शान्ति का कारण बनता है, पर वहां भी विशेष के आलम्बन से शान्ति नहीं हुई, किंतु अधिक विशेषरूप विषयकषाय के आलम्बन को त्यागने के कारण शांति हुई है। यों जितना हम सामान्य की ओर आयेंगे, उतना ही हम धर्ममार्ग में बढेंगे। पूजा करें तो वह विशेष है, जिस प्रकार की पूजा करते हैं, वह विशेष क्रिया है। उस विशेष क्रिया में भी शांति तो नहीं दिख रही हैं। इतना जरूर लाभ है कि विषयकषायों के अन्दर पापमयी कार्यों से यह बहुत लाभदायक है और उन विशेष अशांतियों के मुकाबले यह शान्ति का स्थान है, पर उस पूजा करते हुए में जब कभी अर्न्तदृष्टि जगे, भगवान् के केवलस्वरूप पर ही दृष्टि रहे कि भगवन् ! तुम इतने ऊँचे थे, तुम्हारे अमुक पिता थे, अमुक माता थी, तुम अमुक कुल में हुए हो, अमुक नम्बर के तीर्थंकर हो, इसकी ओर दृष्टि न रहे, केवल वह आत्मा जैसा निर्दोष गुणपुंज है, मात्र वैसी ही दृष्टि हो और उससे भी भीतर एक स्वभावदृष्टि में पहुंचे तो वहां एक सामान्य स्थिति बनती है। विशेष बिल्कुल भूल गये, अब वहां विकल्प न रहे, इस अभेद में, सामान्य में, निराकार स्थिति में आत्मा का धर्ममार्ग बढ़ा।

अभेदानुपचार वर्तना- यह प्रत्याख्याता साधु संकल्प कर रहा है कि मैं इस भेदोपचारचारित्र को अभेदाचाररूप करता हूंऔरअभेदोपचारचारित्र कोअभेदानुपचाररूप करता हूं। भेदविकल्प को छोड़कर इस अभेद भाव को भी निश्चयनय के अवलम्बन की पद्धति से जब निरखा जा रहा है, तब यह अभेदोपचार है। उस तत्त्व को निश्चयदृष्टि से भी छोड़कर नयातीत, पक्षातिक्रान्त जैसा यह अद्वैतस्वरूप है, उस रूप ही वर्तने को अभेदानुपचार कहते है। क्या करना है धर्म? ऐसा अंदाज कर लीजिए। लोग तो हाथ-पैर हिलायें-डुलायें, वचनों से थोड़ा कुछ गा दें, इससे हमारा घर खुश रहेगा, हमारी जिन्दगी सुखी रहेगी इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं। पर करना क्या है, जिससे धर्म मिले? जिस धर्म के प्रसाद से संसार के संकटों के कारणभूत कर्म दूर होते हैं और विशुद्धानन्द जगता है। वह धर्म इन विकल्पों के परे है, इस भेदभाव से दूर है, एक अभेद सहजज्ञानस्वभाव में अभेदरूप से डूब जाने में है, सहजस्वभाव में मग्न होने में है। इस प्रकार अभेदानुपचार सामायिक को यह स्वीकार करता हुआ सहज उत्कृष्ट तत्त्व में अविचलरूप से स्थित होता है।

पहिले तो इस जीव ने साधुव्रत में जो विकल्परूप चारित्र ग्रहण किया था, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धिरूप, जिसका कि विकल्पों से सम्बन्ध है, जिसके उद्यम से साधना करनी होती है, इस चारित्र को निराकार कर देने का संकल्प किया है, आगे इस भेदरूप रत्नत्रय को अभेद रत्नत्रयरूप किया, भेदचारित्र को अभेदरूप किया; यों सर्वविकल्पों से परे होकर अपने एकत्वस्वरूप में रमे तो इसमें परमहितरूप चित्स्वभाव का अभेदानुभव होता है।

परमवन्द्य तत्त्व- योगीजन क्या किया करते हैं? वह कौनसी उनकी मूल औषधि है, जिसके प्रसाद से सारा लोक उनकी ओर वंदन को झुकता है? केवल बाह्यकार्य देखकर जो वंदन करते हैं, उन्होंने वह सारतत्त्व नहीं निरख पाया, इसलिये जैसे के ही तैसे रह गये। इन बाह्यक्रियाकाण्डों के कारण भेद रख लिया, बड़ी सावधानी से समितिरूप प्रवृत्ति की, पांचों पापों का त्याग किया, मौन रखा, कुछ भी कार्य किया, इन बाह्यवृत्तियों से वह वन्दनीयता नहीं है, किंतु वे बाह्य से हटकर सामान्य की ओर रहने का अन्तरंग में यत्न किया करते हैं, यही उनकी एक पूजनीय कला है, जिसके प्रताप से वे लोक में वन्दनीय होते हैं। ऐसे वे निराकार दर्शन में होने से निराकार चारित्रवान् रह जाते हैं।

द्रव्यस्वभाव और आचरण की सव्यपेक्षता- भैया ! चारित्र का अनुसरण और द्रव्य का अनुसरण- इनका भी परस्पर सम्बन्ध है। जैसा यह मैं स्वरूप से आत्मद्रव्य हूं, उसके अनुकूल यदि चारित्र होता तो वह चारित्र है और चारित्र के अनुकूल द्रव्य में वह तत्त्व व्यक्त होता है। शुद्ध तत्त्व की दृष्टि है। इन दोनों का परस्पर में अपूर्व सहयोग बना रहता है। इस कारण हे मुमुक्षजनों ! उस द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चारित्र का आश्रय लेकर इस मोक्षमार्ग का अधिरोहण करो। चारित्र भी पालो, तत्त्वदर्शन भी करो और चारित्र को अभेदरूप करके तत्त्वरमण के पुरुषार्थी रहो तो किसी समय ये सारे विकल्प दूर होकर निर्वाण हो सकेगा। अनुकूलता, प्रतिकूलता, ये सारे विकल्प छोड़ने हैं, तब धर्म होता है, केवल गान-तान से धर्म की प्राप्ति नहीं है। विशेष से हटकर सामान्य की ओर लगे, वहां धर्म का दर्शन है।

धर्मप्रकाश- अहा, इन साधुसंतों की बुद्धि इस विशुद्ध चैतन्यतत्त्व में लगती है, जो अपने इस परमार्थ संयम में सावधान रहते हैं, जिनमें धर्मविकास हो रहा है- ऐसे यतीजन हमारे वन्दनीय हैं, इनकी उपासना से अपने आत्मा का ज्ञानबल प्रकट होता है, जिस ज्ञानबल के प्रसाद से यह आत्मा शान्त हो जाता है। विषयसुख में आदर-बुद्धि न हो, इस चेतन-अचेतन, धन-वैभव, परिग्रह में आस्था न हो, अपने आपको जो कुछ भला-बुरा हो सकता है, वह अपने आपमें अकेले में ही परखें। ऐसा इस लोक में अपने को अकेला निरखें तो इस एकत्व की दृष्टि से अपने में धर्म का विकास होगा।

गाथा 104

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।

आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए।।104।।

ज्ञानी की परमसमता- जो साधु अपने अन्त:स्वरूप के अभिमुख हुआ है, निज चित्स्वभाव में उपयोग को जो तपा रहा है, उसके कैसी भावशुद्धि होती है, इसका वर्णन इस गाथा में चलेगा। ज्ञानी-संत चिंतन कर रहा है कि मेरा समस्त प्राणियों में समताभाव रहे, किसी के साथ भी मेरा बैर-भाव न हो। मैं समस्त आशावों को छोड़कर समाधि को ग्रहण करता हूं। जिसने समस्त इन्द्रिय के व्यापार को हटा दिया है, एक शुद्ध परमार्थभूत आत्मतत्त्व के दर्शन में निरत है- ऐसा ज्ञानी पुरुष न तो ज्ञानियों में राग करता है, न अज्ञानियों में द्वेष करता है। न भले पुरुषों में राग करता है और न बुरे पुरुषों में द्वेष करता है। यह उनकी परमसमता बर्त रही है, वे निरन्तर ज्ञानाद्रष्टा होते रहते हैं।

समस्त परजीवों में ज्ञानी के रागद्वेष का अभाव- भैया ! जैसे लोक में कहते हैं कि पापियों से घृणा मत करो, किन्तु पाप से करो। कोई आत्मा बुरा नहीं है। यों आत्मा की करतूत, आत्मा ही दुर्वृत्ति जो हुई है, वह हेय है। आत्मा कोई बुरा नहीं है। जैसे पापियों को निरखकर पापियों से द्वेष न करने की बात कही जा रही है। वहां कुछ हेय है तो पाप हेय है। इसी प्रकार जो पुण्य करने वाले हैं, ज्ञान करने वाले हैं, अच्छे आचरण पर चलने वाले हैं- ऐसे ज्ञानी पुरुषों से भी राग न करो। ज्ञानी भी राग करने योग्य नहीं है, किंतु ज्ञानी का वह ज्ञानस्वरूप अनुराग करने योग्य है। इस संत को सर्वत्र समताभाव प्रकट हो रहा है। अब इस ज्ञानी के न तो किसी के प्रति शत्रुता का भाव रहा है और न किसी के प्रति मित्रता का भाव रहा है। उसका किसी भी मनुष्य के प्रति बैर नहीं है- ऐसा वह अपने में अनुभव कर रहा है।

परमार्थत: क्षमा स्वयं पर ही प्रयोग- भैया ! क्षमा दूसरे को नहीं दी जाती है, क्षमा खुद को दी जाती है। यह लोकव्यवहार है कि दूसरे ने कोई ऐसा अनुचित कार्य किया, जिससे मुझे कष्ट पहुंचा। उसे सुबुद्धि आये और मुझसे क्षमा मांगे तो मैं सोचता हूं कि इसको क्षमा दे देनी चाहिये। अत: कह देते है कि अच्छा, लो भाई मैंने क्षमा कर दिया। कोई दूसरे को क्षमा नहीं कर सकता, क्योंकि किसी ने दूसरे का अपराध भी नहीं किया और कभी कर भी नहीं सकता है। न किसी का यह अपराध कर सकता है और न किसी को क्षमा कर सकता है। यह जीव मोहवश अपने आपमें ही अपराध करता है और अपने आपको ही क्षमा कर सकता है।

ज्ञानी का नि:संकट सहजविश्राम- क्षमाशील ज्ञानी पुरुष अन्त:सहजविश्राम प्राप्त करता है। अज्ञान अवस्था ही एक महान् संकट है, अन्य कुछ संकट नहीं हैं। वस्तु के स्वतन्त्रस्वरूप की सुध न रहना और मैंने अमुक को यों किया, इस प्रकार का विकल्प चलना, यह एक संकट है। संकट और किसी बाह्यपरिणति का नाम नहीं है। ज्ञानी पुरुष के न शत्रुता का परिणमन है और न मित्रता का परिणमन है। उसका न तो किसी के साथ बैर है और न किसी के साथ राग है। वह सहज वैराग्य में परिणत है। ज्ञानी अपने आपमें शिवसंकल्प कर रहा है कि मैं परमसमाधि को प्राप्त होता हूं। अज्ञानीजन तो कषायों से थककर, झक मारकर विश्राम लेते हैं। होने दो, मरने दो, मुझे मतलब नहीं, यह उसके एक अज्ञान की अकुलाहट है, पर ज्ञानी पुरुष वस्तुस्वरूप के जानने के कारण सहजविश्राम ले रहा है। मैं उत्कृष्ट परमसमाधि को प्राप्त होता हूं, जिससे परम समता का भाव व्यक्त होता है।

स्वसामर्थ्य के प्रयोग का अनुरोध- हे मुमुक्ष आत्मन् ! तू तो अनन्तशक्तिसम्पन्न है। केवल सारे विश्व को जानता देखता रहे- ऐसी अनन्त सामर्थ्य तुझमें है। अरे, तू क्यों नहीं प्रमाद छोड़ता है? अपने आपमें सही ज्ञान की दृष्टि क्यों

नहीं जगाता है? एक ही पूर्ण निर्णय है कि सम्यज्ञान ही सत्य-वैभव है और भ्रम ही पूरी विडम्बना है। मैं समस्त परपदार्थों से जुदा हूं, इसकी दृष्टि न होकर मेरा घर है, मेरा परिवार है, मेरा धन-वैभव है, मेरी इज्जत है, लोग मेरी कदर करते हैं। अरे, ये सब स्वप्न की बातें हैं। मेरा तो सब कुछ मेरे से ही पूरा पड़ेगा। मैं अपने ज्ञान को जिस तरह प्रवर्ताऊँगा, उसी प्रकार मुझ पर बीतेगी। दूसरे की करतूत मुझ पर न बीतेगी।

परमार्थ कुलाचार की संभाल- हे मुमुक्ष पुरुष ! समतापरिणाम में रहना ही तेरे कुल का शुद्धाचरण है। तेरा कुल है चैतन्यस्वरूप। उस चैतन्यस्वरूप के अनुरूप ही उपयोग बनाना, सो ही तेरे कुल का सच्चा आचार है। तू अपने सदाचार को छोड़कर नीच वृत्ति में क्यों आ रहा है? तू अपने अनन्तकाल को संभाल। इस ज्ञानबल में, इस ज्ञानचक्र में वह सामर्थ्य है कि यह मोह राजा जो अज्ञानमंत्री की सलाह लेकर अपना ताण्डव-नृत्य कर रहा है, वह इस ज्ञानबल से ही समूल नष्ट हो सकेगा। अपने बल को संभाल। अपने आपमें अपनी प्रभुता निरख, तुझे अनन्त आनन्द होगा। कोई हितू बारबार भी समझाये और तू एक बार भी न माने तो यह तो बरबादी के होनहार की ही बात है। आचार्यदेव जिन्होंने सर्वस्व संन्यास करके अपने आपमें ज्ञानविभूति पायी है, उस वैभव का उपयोग करके मुमुक्षुवों को समझा रहे हैं- अरे, तू एक बार तो इस चैतन्यस्वरूप की ओर झुक। इन जड़, असार जो मिटने वाले हैं, इन परपदार्थों की ओर ही क्यों झुक रहा है?

ज्ञानामृत- अहो, जब तक उपयोग में विष की डली रखी हुई है, तब तक अमृत का स्वाद कैसे आ सकता है? ज्ञानस्वरूप ही अमृत है और रागद्वेष ही विष है। उस समता की भावना करो, जिस समता के प्रसाद से मुक्ति का सुख प्राप्त होता है। यह समता ही समस्त दुर्भावनावों के अंधकार को दूर करती है। अज्ञानी लोग जरा-जरासी बातों पर राग और द्वेष बराबर बनाये रहते हैं। निरन्तर उनका ऐसा जागरण है कि यह मेरा घर है, यह मेरा लड़का है, यह पराया है, यह दूसरे का है। जरा-जरासी बातों पर ऐसा पक्ष पड़ा हुआ है। जो भीतर में पक्ष बना है, वह तो अपना असर दिखायेगा ही। परपदार्थों में कुछ अपनापन मानना- यही दुर्भावना है। उस दुर्भावना को नष्ट करने में यह ज्ञानप्रकाश समर्थ है।

समता की उत्कृष्टता- संयमीजन ज्ञानसम्पदा का आदर करते हैं। अज्ञानीजन इस सम्पदा का क्या आदर करें? वे तो रागद्वेष के वश होकर इसका आदर नहीं करते हैं। यह तत्त्वज्ञान, यह मोक्षमार्ग ज्ञानी पुरुषों के द्वारा उपादेय है। इस धर्म की आस्था ज्ञानी को है। अज्ञानी तो धर्म की उपेक्षा करता है। अज्ञानीजन इस धर्म की उपेक्षा कर दें तो क्या उनके उपेक्षा कर देने से यह धर्म निद्य हो जाता है? यह धर्म तो अब भी बड़े उत्कृष्ट पुण्यशाली ज्ञानवन्त पुरुषों के उपयोग में शोभा पा रहा है। वन की भिलनियां वन में मिले गज-मोतियों का अनादर कर देती हैं। उन्हें कुछ पता नहीं है, अत: वे उन्हें पैरों के घिसने के काम में लेती हैं। यह तो उनकी अज्ञानता है, पर उन भिलनियों के द्वारा उन गज-मोतियों के दुरुपयोग से क्या मोती निद्य हो गये? वे गज-मोती, वे हीरे-रत्न तो अब भी बड़े-बड़े सम्राटों के गले में शोभित होते हैं, पटरानियों के गले में शोभित होते हैं। अज्ञानी जनों द्वारा अनादर कर दिये जाने से महान् पदार्थों का अनादर नहीं हो जाता है। हे मुमुक्षु पुरूषों ! रागद्वेष की दुर्भावनाओं को तजकर एक इस समता की भावना में आइये।

ज्ञानी और अज्ञानी का संस्कार- ज्ञानी पुरुष को स्वप्न में भी ज्ञान की ही बातें दिखाई देती हैं। स्वप्न भी उन्हें आए तो ऐसा, जिसमें ज्ञानप्रकाश की ही बात हो, क्योंकि ज्ञानियों के चित्त में निरन्तर ज्ञान का ही उपयोग रहा करता है। शुद्धस्वरूप का विवेक जिसके निरन्तर जग रहा हो, प्रतीति में बना हो तो आंखों की निद्रा आने पर भी वह संस्कार अपना विशुद्ध परिणमन करता है। अज्ञानीजनों के निरन्तर अहंकार और ममकार बसा रहता है। किसी क्षण वे अहंकार को छोड़कर नहीं रह सकते हैं, इसी कारण उन्हें स्वप्न भी आयेंगे तो खोटे ही आयेंगे। अहंकार और ममकार के पोषक ही स्वप्न आयेंगे, उन्हें अच्छा स्वप्न दिख ही नहीं सकता। अज्ञानी के संस्कार का असर स्वप्न तक में चलता है।

समता का प्रताप- हे प्रियतम ! एक इस समता की भावना भावो। समतास्वरूप निज ज्ञानस्वरूप की ही भावना करो तो ये सब क्लेशजाल नियम से दूर होंगे। इन क्लेशों को दूर करने की अन्य किसी में सामर्थ्य नहीं है। खेद की बात तो यह है कि जिस सम्बन्ध के कारण, मोह के कारण जिन परजीवों की प्रवृत्ति को देखकर दु:खी हो जाते हैं, उन्हीं की ओर लगने की यह सोचा करते है और कोशिश करता है। निरंतर बाह्यसम्बन्ध का ही तो दु:ख है और अज्ञानी प्राणी निरन्तर बाह्यसम्बन्ध ही करते हैं। एक क्षण भी तो बाह्य विकल्प त्यागकर विश्राम से नहीं बैठ सकते हैं। अज्ञान के समान संकट दुनिया में कुछ है ही नहीं।

जड़सम्पदा को पाकर क्यों हर्ष मानते हो? उसमें यह कला कहां पड़ी है कि हमें शान्ति उत्पन्न कर दे? शान्ति प्रकट करने की कला तत्त्वज्ञान में ही है। मेरे समता प्रकट होओ और कुछ न चाहिये। समता हो सकी तो सब कुछ पा लिया। समागम में कोई परपदार्थ न रहें, किंतु समता बस रही हो तो इस समता के प्रताप से निरन्तर आनान्दमृत का पान किया जा सकेगा। यह समता बड़े-बड़े योगियों को भी दुर्लभ है। इसे पाते तो योगीजन ही हैं, किन्तु उन्हें अन्तरंग में बहुत बड़ा पुरुषार्थ करना पड़ता है, तब शान्ति सम्पदा में भेंट होती है।

हल्दी की गांठ पर पंसारीपना- भैया ! बड़े-बड़े तीर्थंकर तो इन ठाठों को छोड़कर अपने-अपने उपादेय स्थान में पहुंचे और यहां हम आप न कुछ साधारणसी विभूति पाकर निरन्तर इस विभूति के ही स्वप्न देखा करते हैं, यह कितने खेद की बात है? अहाने में तो कहा करते हैं कि "चूहा हल्दी की गांठ पाकर पंसारी बन गया"। पर अपने में कुछ नहीं घटाते हैं कि थोड़ासा यह हजारों लाखों का धन पाकर यह अपने को श्रेष्ठ मानने लगा है। तेरे से बढ़कर अनेकों की स्थितियां इसी देश में हैं, उनसे भी बढ़कर अनेकों की स्थितियां विदेश में भी सम्भव हैं, उनसे भी कई गुणे बढ़कर मण्डलेश्वर राजा होते हैं, उनसे अधिक महामण्डलेश्वर राजा होते हैं, उनसे कई गुणे नारायण और प्रतिनारायण होते हैं, वे तीन खण्ड के अधिपति होते हैं, उनसे दुगुने चक्रवर्ती पुरुष होते हैं और ऐसे अनेक चक्रवर्ती जिनके चरणों में नमस्कार करें, उन तीर्थंकरों के बड़प्पन को तो बताया ही क्या जाए? अब उनके सामने देख तूने हल्दी की गांठ ही पायी है या कुछ और पाया है?

आभूषण और बेड़ी- ये परमपुरुष, तीर्थंकर आदिक जो सब कुछ परित्याग करके निर्जन स्वक्षेत्र में, परक्षेत्र में निवास कर रहे थे, उनको किसका आकर्षण था, वे किसको निरखकर प्रसन्न रहा करते थे? वह तत्त्व है ज्ञानदर्शनमय

आत्मस्वरूप। यह समतारस से भरा हुआ केवल ज्ञानप्रकाश तीनों लोकों का आभूषण है। कौनसी जड़विभूति में तुम आभूषण की कल्पना करते हो? यह तो संसारकारागार में बांधने की बेड़ी है। जब तक यथार्थज्ञान नहीं होता है, तब तक इस थोते विषय-साधनों की बड़ी कीमत आंकी जाती है। तत्त्वज्ञान होने पर यह ज्ञानी पुरुष इस सम्पदा को यों त्याग देता है, जैसे कोई पुरुष नाक सिनककर फैंक देता है। नाक को सिनककर उसे फिर हाथ से कोई नहीं पकड़ता है। इसी प्रकार से ये ज्ञानी-संत अपने ज्ञानबल से इस सम्पदा का परिहार करते हैं और कभी भी अपने उपयोग में इसे उपादेय नहीं मान सकते हैं।

समाधिस्वरूप आत्मतत्त्व का शरण- यह मेरा आत्मस्वभाव ही परमशरण है। इस आत्मतत्त्व के जानने के उपाय अनेक बताये गये हैं। 7 नय, नैगम, संग्रह आदिक अथवा निश्चय व्यवहाररूपनय आदि अनेक प्रकार के नयों से इस आत्मतत्त्व का परिज्ञान कराया जाता है, किंतु जब यथार्थसम्यक् आत्मतत्त्व का परिज्ञान होता है, उस समय नय का साधन जुट जाता है। यह मेरा आत्मतत्त्व जब अनुभव में आया तो वहां नयलक्ष्मी का उदय नहीं रह सकता है, बल्कि नयलक्ष्मी अस्त को प्राप्त हो जाती है। और तो क्या, वहां प्रमाण का भी विकल्प समाप्त हो जाता है। वहां कोई व्यवहार नहीं रहता। केवल शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का अनुभव जगता है। वह मैं आत्मतत्त्व हूं, यथार्थ जो कि इस शुद्धानुभव का विषय होता है। परमयोगी-संत इस ज्ञानज्योति को निरखते रहते हैं, जिससे कि वे निर्जन वनों में भी प्रसन्न रहा करते हैं। यह है करने का काम।

यह हिसाब-किताब वैभव संचय रखना आदि आत्मा का कर्तव्य नहीं है। गृहस्थावस्था में यद्यपि करना पड़ता है, किन्तु उसे अपना ध्येय न बना लें। अपने आपको शुद्ध ज्ञानस्वरूप मानते रहने का ध्येय बनायें। इस समतापरिणाम से ही साधु की साधुता है और परमात्मा बनने का साधनभूत शुक्लध्यान प्रकट होता है। यह ज्ञानी साधु चिंतन कर रहा है कि मेरा सब प्राणियों में समतापरिणाम रहो। किसी के साथ मेरा बैरभाव नहीं है। मैं समस्त पदार्थों की आशा को छोड़कर निश्चय से दृढ़ता के साथ ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप परसमाधि को प्राप्त होता हूं। निश्चयप्रत्याख्यान के प्रसंग में यह ज्ञानी-संत समाधिभाव का शिवसंकल्प कर रहा है।

गाथा 105

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।

संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे।।105।।

प्रत्याख्यान का अधिकारी- निश्चयप्रत्याख्यान का अधिकारी कौनसा जीव है? उस जीव के स्वरूप का वर्णन इस गाथा में किया गया है। जो साधु विषकषाय हैं, दान्त हैं, शूर हैं, व्यवसायी हैं, संसार के भय से भीत हैं- ऐसे साधुवों के यह आनन्दमय प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान भाव आनन्दमय है। त्याग में क्लेश नहीं होता है, बल्कि आनन्द ही बरसता

है। जिन पुरुषों के अन्तरंग में तो विषयों की रुचि है और किसी आवेश में आकर त्याग कर देते हैं बाह्यपदार्थों का, उनका वह त्याग विडम्बनारूप होता है और फिर वे क्लेश मानते हैं। वस्तुत: उन्होंने त्याग ही नहीं किया। बाह्यवस्तु के त्याग का नाम वास्तविक त्याग नहीं है, बल्कि अपने आत्मा में जो विषय-कषायों की तरंग उठती हैं, इच्छाएँ जगती हैं, उन इच्छावों के प्रत्याख्यान का नाम वास्तविक त्याग है। वास्तविक त्याग न करें और बाहरी पदार्थों को छोड़ दें तो उनको क्लेश मालूम होता है। त्याग में त्यागी हुई चीज पर दृष्टि नहीं होती है कि मैंने अमुक का त्याग कर दिया है, किन्तु त्यागमय आत्मा का जो सहजस्वरूप है, उस स्वरूप की ओर झुकाव होता है। इसी कारण इस प्रत्याख्याता के सहज आनन्द ही बरसता है।

प्रत्याख्याता की कषायकलंकमुक्तता- यह प्रत्याख्यान का अधिकारी साधु समस्त कषायकलंकरूपी पंखों से निर्मुक्त है। ये कषाय कलंकरूप हैं। जो परसंगति से उत्पन्न हुआ अपयश है, उसी को कलंक कहते हैं। किसी मनुष्य का कोई कलंक प्रकट हो तो उसका तात्पर्य यह है कि इसने पर का खोटा सम्बन्ध किया है। चाहे चोरी का कलंक हो, चाहे कुशील का कलंक हो या दूसरे जीवों पर अन्याय करने का, सताने का कलंक हो अथवा अनाप-सनाप दूसरों के द्रव्य को लेने का कलंक हो- ये सब कलंक पर की संगित से हुए हैं। परसंगति बिना कलंक नहीं कहलाता है। वस्तुगत कलंक तो कषायभाव हैं, किन्तु कोई मनुष्य दूसरे का कलंक किन शब्दों में जाहिर करेगा? वह किसी न किसी परवस्तु के संग का नाम लेकर कलंक जाहिर करेगा। ये कषाय परभाव हैं। आत्मा में क्रोधादिक कषायें पर का निमित्त पाकर उत्पन्न होती हैं, अत: सब कषाय कलंकरूप हैं। जो कषाय कलंकों से रंगा हुआ हो, वह वास्तविक प्रत्याख्यान कैसे कर सकता है? वह तो हेय चीज का ग्रहण किया करता है। कोई पुरूष आवेश में आकर अनेक प्रयोजन से सब कुछ त्याग किया कर बैठे, मकान, घर, परिवार, कपड़े आदि सबका परित्याग करके साधु भेष बना ले तो उसने त्याग किया या ग्रहण किया? लोगों को दिखता यह है कि उसने सब कुछ त्याग दिया, पर अन्तरंग में बात यह हो रही है कि उसने विभावों को और जकड़ करके पकड़ लिया है।

कषाय की हेयता- भैया ! छोड़ने योग्य चीजें कषायें है। कषायों के छूटने में सहयोग मिले, निर्दोष तत्त्व की दृष्टि की पात्रता रहे, इसके लिये बाह्यपदार्थों का त्याग है। मुक्तात्मा को होना है या इस शरीर को होना है? आत्मा जिन पीड़ावों से पीड़ित हो रहा है, उन पीड़ावों को छोड़े तो मुक्ति होगी या मकान, परिवार को छोड़े तो मुक्ति होगी? यद्यपि परिवार, मकान छोड़े बिना मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता, पर उसमें मर्म यह है कि मुझे पीड़ा देने वाले जो विषय-कषायों के परिणाम हैं, वे परिणाम किसी परपदार्थों को विषयभूत करके उत्पन्न हुआ करते हैं। पर विषय बनाए बिना ये विभव उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, इसलिए उन आश्रयभूत विषयसाधनों का परिहार कर दें। ये बाह्यपरिग्रह सामने न रहेंगे, निकट न रहेंगे तो विषय कषाय उत्पन्न होने का अवकाश न मिलेगा- यह एक साधारण विधि है। कोई पुरूष गृह, परिवार सब कुछ छोड़कर भी अपनी कल्पना में उनको सोच-सोचकर चिन्तित रह सकता है। ठीक है, परन्तु गृह, परिवार छोड़े बिना कोई जीव निर्विकल्प-ध्यान का पात्र नहीं बन सकता है। इससे बाह्यप्रत्याख्यान भी चाहिए और चूंकि

परमार्थ के आश्रय बिना सिद्धि नहीं होती, सो प्रयोजनभूत परमार्थ यह अन्तरंग में ज्ञान भी नियम से चाहिये। जो कोई कषाय-कीचड़ से विमुक्त है- ऐसा पुरूष ही इस निश्चयप्रत्याख्यान को धारण कर सकता है।

प्रत्याख्याता की दान्तरूपता- ये साधु, संतजन जो परम आनन्दमय प्रत्याख्यानसंयम को लिए रहा करते हैं, वे दान्त होते हैं अर्थात् इन्द्रियों का उन्होंने दमन कर दिया। जो इन्द्रिय के विषयों क रुचि रखा करते हों, उनके प्रत्याख्यान कहां से हो सकता है? यह सारा जीवलोक इन्द्रिय के विषयों का ही रोगी है। इसे इन्द्रिय और मन के विषयों के अतिरिक्त कोई 7वीं बात लक्ष्य में नहीं आती है, इसी षट्चक्र के फेर में बना रहता है। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय भोगा, उसमें गन्दे विकल्प किए, इसी प्रकार रसना, घ्राण, चक्षु और स्रोत्र आदि के इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहे और मन की कल्पना के विकल्प बढ़ाते रहे। इस मायामयी दुनिया में, मायामय जीवों में अपनी किसी माया का बढ़ावा सोच रहे हैं, इन्हीं जालों में यह जीव उलझा हुआ है। जो आनन्द की विधि है, उसमें यह प्रवेश नहीं पा सका। कैसे प्रवेश पाए? विषयों के रुचिया को अपने आपके सहज आनन्द की गंध कहां से आए?

असंयम की रुचियों के संयम की अरुचि पर एक दृष्टान्त- एक कथानक है कि एक कहारिन की लड़की और एक मालिन की लड़की दोनों परस्पर में सहेली थीं। दोनों ही अलग-अलग गाँवों में ब्याही गई। मालिन की लड़की किसी बड़े कस्बे में ब्याही गई थी और कहारिन की लड़की किसी गाँव में ब्याही गई थी। दोनों का व्यवसाय अलग-अलग था। एक बार कहारिन की लड़की मछली का टोकना लेकर उसी कस्बे में मछली बेचने गयी, जिसमें उसकी सहेली ब्याही थी। मछली बेचते हुए शाम हो गई तो उसने सोचा कि आज रात को सहेली के यहां ठहर जाऊँ और सुबह होते ही चली जाऊँगी। यह सोचकर वह सहेली के यहां जा पहुंची। सहेली ने कहारिन की लड़की का बहुत आदर किया। उसे खाना खिलाया, रात्रि में सोने के लिए बढ़िया पलंग बिछाया और उस पर फूलों की शय्या बिछा दी। फूलों की महक से कमरा महक उठा। जब कहारिन की लड़की पलंग पर लेटी तो उसे नींद नहीं आई। मालिन की लड़की बोली कि "सहेली ! नींद क्यों नहीं आती?" कहारिन की लड़की ने उत्तर दिया कि "कमरे में फूलों की गन्ध भर गई है, इस गन्ध के कारण मेरी नाक फटी जा रही है।" मालिन की लड़की ने उस फूल की शय्या को उठा दिया, फिर भी गन्ध तो कमरे में रह ही गई। अब पलंग के भी सारे कपड़े झाड़ दिए, फिर भी नींद न आई। तब कहारिन की लड़की कहती है कि "सहेली ! नींद आने का केवल एक ही उपाय है कि वह जो मछली का टोकना रखा है, उसे मेरे सिरहाने रख दो और इस टोकने में कुछ पानी भी डाल दो।" मालिन ने विवश होकर ऐसा ही किया, तब कहारिन को नींद आयी।

विषयों के प्रेमियों को ज्ञान में अरुचि- भैया ! जैसे मछली की गंध में चैन मानने वाली कहारिन को फूलों की गंध नहीं सुहाती- ऐसे ही विषयों में चैन मानने वाले अज्ञानी पुरुषों को ज्ञान और वैराग्य की बातें नहीं सुहाती। ये पुरुष कभी बाह्यपदार्थों का त्याग भी करें तो भी उनका प्रयोजन पंचेन्द्रिय के विषयों का रहता है। सब कुछ छोड़ दें तो बड़ी भक्ति से, आराम से भोजन तो मिलेगा। साधु-बाना रखने से और लौकिक इज्जत भी बढ़ेगी। यों रहने से तो कष्ट भी हो रहे हैं। अहो, कितने ही विकल्प बनाए जाते हैं। ऐसे अज्ञानी पुरुष ने त्याग ही कहां किया? वह तो अपने उपयोग

में विषयों को ही बसाए हुए है। जो भी पुरुष इन्द्रिय-विषयों का दमन नहीं कर सकते, वे आनन्दमय तत्त्व पा नहीं सकते। जो साधु समस्त इन्द्रियों के व्यापार पर विजय पा चुका है और उस इन्द्रिय-विषय के कारण परमदमन किए हुए है- ऐसे पुरुष के ही यह निश्चयप्रत्याख्यान होता है। व्यवहारप्रत्याख्यान भी ऐसे ही पुरुष भली प्रकार निभा सकते हैं।

ज्ञानशूरता- प्रत्याख्यान का पात्र साधु शूर होता है। सुभटों में शूरता अन्य सुभटों को मार गिराने में है और साधुवों की शूरता सर्वप्रकार के परिषहों को शान्तिपूर्वक सहने में है। खूब ध्यान से सोचिए कि अनेक प्रतिकूल वातावरण चल रहे हों, गाली-गलौच, अपमान आदि अनेक दुर्गतियां सामने होने की अवस्था में भी विषय न जग सकें, क्षमाभाव बना रहे और इस चैतन्यस्वभाव के अवलोकन का प्रसाद बना रहे- इसमें कितनी बड़ी शूरता की आवश्यकता है? भीतर देख लो- यदि अन्तरंग में कायरता है तो शरीरबल से विशिष्ट होने पर भी बल का काम नहीं दिख सकता है- इतना तक अन्तर होता है। जैसे एक कहावत है कि एक बनिये का लड़का और एक क्षत्री का लड़का- ये दोनों आपस में लड़ बैठे। बनिया-पुत्र हष्ट-पुष्ट था, बल में तेज था और क्षत्रिय-पुत्र दुबला-पतला तथा कम ताकत का था। अत: बनिये के पुत्र ने क्षत्रिय-पुत्र को नीचे ढकेल दिया और छाती पर चढ़ गया। अब बनिये का पुत्र कहता है कि कहो, अब तुम हारे ना? क्षत्रिय-पुत्र कहता है कि हाँ, हम हार तो रहे हैं, पर यह तो बतावो कि तुम किसके लड़के हो? उसने कहा कि मैं बनिया-पुत्र हूं। इतनी बात सुनकर क्षत्रिय-पुत्र में इतना जोश आया कि वह झट उठकर उसकी छाती पर आ गया। अत: जोश में क्या कम शक्ति होती है? यह जोश क्या है? आत्मा के भावों की शूरता शरीर-बल नहीं है, बल्कि भाव-वीरता है।

क्षुधापरीषह की विजय- अभ्यस्त ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूप को निरखकर इतने शूर हो गये हैं कि उनके श्रद्धेय-कर्तव्य में उपसर्गों के द्वारा भी बाधा नहीं पहुंच सकती है। कितने प्रकार के परिषह होते हैं? उन परिषहों में कितने कष्ट सहने होते हैं? यह थोड़ा भी विचार करने पर समझ में आता है। कोई साधु अनेक दिनों का उपवास किए हुए हैं, आहार को जाता है, पर अन्तराय हो जाता है और आहार नहीं हो पाता है। इस तरह बहुत से दिन व्यतीत हो जाते हैं, लेकिन वह अपने आपमें "शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूं" ऐसी दृष्टि होने के कारण अन्त: प्रसन्न रहा करता है। लोगों को तो यह बड़ा कष्ट मालूम होता। परिषहों पर विजय करना कठिन काम है, किंतु इन शूरों के लिए यह बड़ा सुगम काम है। जैसे कोई बड़ा पहलवान बच्चों को कुश्ती सिखाए, दाव-पेच सिखाए तो सभी बच्चे थक जाते हैं, पर वह पहलवान नहीं थकता है। इसी प्रकार जो ज्ञानशूर है, जिसके निर्णीत ध्येय में कठिन उपसर्गों से भी बाधा नहीं आती है, उस पुरुष को ये परिषह जीत लेना एक आसान काम है।

तृषापरीषहविजय- ध्यान तो लाइये, अनेक उपवास हैं। गर्मी के दिन हैं, जहाँ साधारणजन दिन-रात ही पानी पीते रहते हैं- ऐसे गर्मी के दिनों में भी साधुजन आहारचर्या को निकलें और उन्हें योग न मिले तो उनकी तृषा का कौन वर्णन कर सकता है? लेकिन तृषा-सम्बन्धी खेद का अनुभव उन्हें रंच भी नहीं होता है। अरे ! गृहस्थी भी जहाँ हजारों का मुनाफा मिल रहा हो- ऐसा रोजगार करने के लिए जायें तो उन्हें भी भूख और प्यास की वेदना नहीं मालूम होती है। सोचते हैं चलो एक-दो दिन के लिए ही तो ये वेदनायें हैं। जिनका ध्येय कुछ अभीष्ट, अपनी समझ में हितकारी है-

ऐसे पुरुषों के चित्त उद्देश्य पाने में ही रमा करता है। उन्हें बाह्यउपसर्ग नहीं मालूम होते हैं। एक ही परिषह क्या, सभी परिषहों को निरखते जाइए।

शीतपरीषहविजय- यह साधु कितना शूर है? कैसे शान्त-परिणामों से उन सब उपद्रवों को सहन कर लेता है? ठण्ड का परिषह भी क्या साधारण परिषह है? कायर लोग तो जरासी शीत में ही जान दे डालते हैं। जिस शीतकाल में बन्दर भी हार जाते हैं, पशु-पक्षी भी प्राण गँवा देते हैं, उस शीतकाल में भी शीतस्थानों में शीत की वेदना को ऐसी शांति से सह लेते हैं कि जो अज्ञानी जनों के वश की बात नहीं है। वह कौनसी गर्मी है? इस चैतन्य-ज्योति को जो प्रज्ज्वलन किया है, इस ज्ञानी-संत ने उसके अन्त: भावरूप उष्णता है कि बड़ी शीत-बाधाएँ उनके नहीं लगती हैं। गर्मी की बाधा भी कितनी विकट बाधा है? बैसाख और ज्येष्ठ के दिनों में जहाँ तेज लू चल रही हो, वहाँ एक बार भी आहार-पानी मिले, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है।

उष्णपरीषहविजय- अनेक दिन के उपवासी भी हों- ऐसे पुरुष उष्णकाल में भी कठिन उष्णपरिषह पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि लौकिक जनों के पर्यायबुद्धि है, वे ठण्ड के दिनों में गर्मी के परिषह का अनुमान व गर्मी के दिनों में ठण्ड के परिषह का अनुमान नहीं कर पाते हैं, पर गर्मी में गर्मी व ठण्ड में ठण्ड कैसी होती है, यह तो वे जानते ही हैं। वे साधुजन गर्मी के परिषह को भी शांतिपूर्वक सह लेते हैं। कोई ऐसी शीतल औषधि उनके अन्तर में है कि जिससे गर्मी का परिषह सह लेते हैं। वह औषधि है ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि। इससे ऐसे तृप्त रहा करते हैं कि उन्हें ये बाधाएँ भी कुछ वेदना नहीं कर पाती हैं। ऐसे सुभट-शूरों में यह ज्ञानानन्दमय प्रताप प्रकट होता है। इस प्रकरण में प्रत्याख्यान के योग्य कौन साधु है, उसका विवरण चल रहा है। जो निश्चयप्रत्याख्यान का अधिकारी है, उसके ही विधिपूर्वक व्यवहारप्रत्याख्यान भी निभ जाया करता है।

ज्ञानशूर संत के दंशमशकपरिषहविजय- निश्चयप्रत्याख्यान अर्थात् भविष्यकाल में किसी भी प्रकार के अपराध को न करने का दृढ़ नियम ज्ञानशूर पुरुष के होता है, जिस ज्ञानशक्ति से कठिन परिषह भी समतापूर्वक सह लेता है। ये साधु-सन्त वन, उपवन आदि स्थानों में विराजे हुए ध्यान में रत रहा करते हैं। उनके शरीर को कोई मच्छर काटे तो वे मच्छर की वेदना की परवाह नहीं करते हैं और समतापूर्वक सह लेते हैं, चूँकि अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि प्रबल अनुराग है और वे इस ज्ञानस्वभाव के दर्शन से हटना नहीं चाहते हैं। ऐसे ही खटमल, चींटा, बिच्छू आदि कोई भी कीट काटे तो भी अपने स्वरूप से बाहर इन कीट-पतंगों की ओर उपयोग देने में वे अपनी हानि समझते हैं। क्या उन पुरुषों में इतनी शक्ति नहीं है कि हाथ से उन्हें अलग कर दें और फिर आराम से ध्यान करें? अरे, वहाँ ध्यान ही क्या होगा, जहाँ प्रथम यह विकल्प ही उत्पन्न हो जाये कि ये इस शरीर को काट रहे हैं, मुझे सता रहे हैं, मैं इनको दूर कर दूं? इस प्रकार की कल्पना के विकल्पों को वे हानि समझते हैं।

नाग्न्यपरीषहविजय- साधुजन सब बाह्यपदार्थों से उपेक्षित रहते हैं। उन्हें किन्हीं भी बाह्यवस्तुवों से प्रयोजन नहीं है। जिन्होंने अपना ध्येय एक सर्वविमुक्त निज आत्मतत्त्व की साधना का ही रखा है। ऐसे पुरुष किन बाह्यपदार्थों में उपयोग लगायेंगे? परिणाम यह होता है कि वस्त्र तक भी छूट जाते हैं। जिस नग्नरूप में उत्पन्न हुए थे, उसी रूप में वे

आ जाते हैं। बच्चे कहाँ कपड़े लपेटकर पैदा होते हैं और कहाँ भस्म या श्रृंगार लगाकर बच्चे पैदा होते हैं? जैसे वे नग्न निर्विकार होते हैं, शारीरिक कामविकारी नहीं होते हैं- ऐसे ही ये शारीरिक कामविकारों से परे नग्न दिगम्बर साधु निर्विकारस्वरूप का अनुभव कर रहे हैं। देवांगना भी यदि गान, तान, भाव, नृत्य आदि करके उन्हें डिगाना चाहे तो भी वे अपने शुद्ध ध्येय से नहीं चिगते हैं। वे सहजस्वरूप की ही साधना करते रहते हैं। यह आत्मा भी स्वयं नग्नरूप है अर्थात् इसमें किसी भी परवस्तु का प्रवेश नहीं हैं। ऐसे ही ये साधु अन्त:नग्न, बाह्यनग्न रहकर सहज ज्ञानानन्दामृत का पान किया करते हैं। ये ऐसे कठिन उपसर्गों में भी विचलित नहीं होते हैं। शरीर के बड़े-बड़े सुभट भी जिनमें हाथी और सिंहों को भी परास्त कर देने की सामर्थ्य है- ऐसे बलि सुभट भी स्त्री के स्नेह के आगे घुटने टेक देते हैं। किंतु निर्ग्रंथ साधुवों पर कैसा भी उपसर्ग आये, लेकिन अपने सहजस्वरूप की साधना से विचलित नहीं होते हैं।

अरतिपरीषहविजय- भैया ! यह तो जीवन है, इसमें अनेक इष्ट और अनिष्ट पदार्थों का समागम हुआ करता है। कितने भी अनिष्ट पदार्थ सामने आयें, जो मनुष्य सुहाते नहीं हैं, वे सामने आयें, जो अमनोज्ञ विषय हैं, आहार अथवा अन्य प्रकार के विपरीत अनिष्ट विषय भी सामने आयें तो भी वे कभी यह स्मरण नहीं करते हैं कि हम पहिले कैसा बढ़िया खाया करते थे? राग करने की बात तो जाने दो और वर्तमान अमनोज्ञ विषय में द्वेष करने की बात से भी दूर रहो, किंतु वे पहिले भोगे हुए भोगों का स्मरण तक भी नहीं करते हैं। वे अनिष्ट पदार्थों के समागम में न विरोध करते हैं, न ग्लानि करते हैं, केवलआत्मसाधना में बने रहते हैं- ऐसे ये ज्ञानस्वरूप पुरुष ही समस्त अपराधों का परित्याग कर सकते हैं।

स्त्रीपरीषहविजय- किसी भी साधु से द्वेष हो जाए तो साधु को बरबाद करने का उपाय, साधु से बदला लेने का कठोर उपाय एक स्त्रीपरीषह है। पूर्व पुराणों में सुना करते हैं कि किसी ने किसी साधु को विचलित करने के लिए स्त्रियों का गान तान, नृत्य कराया और किसी ने प्रेमवश किया, यह जल्दी सिद्ध न हो जाए। यह क्या प्रेम है? यह तो द्वेष है। अत: उसे साधना से विचलित करने के लिए भी स्त्रीरूप में देवांगनावों तक ने, देवों तक ने उन्हें विचलित करने का साधन किया था, किन्तु जो आत्मतत्त्व के रुचिया ज्ञानी पुरुष होते हैं, वे इन परिषहों से भी विचलित नहीं होते हैं। देवांगनायें भी इन साधुवों के चित्त को हरने में असमर्थ हैं। अन्य स्त्रियों की तो बात ही क्या है? ऐसे ये स्त्रीपरिषह के विजयी अन्तरंग के ज्ञानशूर पुरुष होते हैं। ये ही समस्त विभावों का प्रत्याख्यान करने के अधिकारी हैं।

चर्यापरीषहविजय- ये साधु पुरुष गुरुजन की विनयपूर्वक, उन्हें ही अपना पिता समझकर, रक्षक समझकर सेवा किया करते हैं। गुरु की सेवा के प्रसाद से ही ज्ञान, ब्रह्मचर्य और वैराग्य दृढ़ होता है। ज्ञान के साधक साधुवों का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे गुरुजनों की चिरकाल तक निष्कपट सेवा करते रहें। ऐसे ही जिनको अपना ब्रह्मचर्य पुष्ट रखना हो, उनका भी यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे गुरुजनों को बड़ी ही विनयपूर्वक अपना और महान् जानकर चिरकाल तक सेवा किया करें और ऐसे ही गुरुसेवा के प्रसाद से वैराग्य भी दृढ़ होता है। यों गुरु-चरणों की सेवा करके जिसने अपना ज्ञान, ब्रह्मचर्य और वैराग्य दृढ़ किया है यह साधु पुरुष गुरु की आज्ञा से कहीं विहार करने जाए और विहार करते हुए में कांटे-कंकड, कंकरीले पत्थर आदि पैर में छिद जायें तो भी वह समतापूर्वक सहन करता है

और इतना तक भी ख्याल नहीं करता है कि मैं पहिले पालकी में चढ़कर जाया करता था, मैं हाथियों पर सवार होकर भ्रमण करता था, पर अब अपने आराम का वह स्मरण तक भी नहीं करता है और ऐसी कठिन वेदनावों को समता से सहन कर लेता है। वह इस शारीरिक चर्या पर दृष्टि न देकर चर्या की वेदना में उपयोग न देकर आत्मचर्या में ही उद्यत रहता है। यह मेरा ज्ञानस्वरूप मेरे ज्ञान में ही बर्तता रहे- ऐसे शूर पुरूष ही प्रत्याख्यान के अधिकारी होते हैं।

निषद्यापरीषहविजय- वे साधु पुरुष ज्ञान के शूर भयंकर वन में कंकरीली जमीन पर, टेढ़ी-मेढ़ी उठी हुई जमीन पर ध्यान करते हैं। रोग आ जाए, उपसर्ग आ जाए आदि बाधावों को समता से सहते हैं। जिस आसन से ध्यान करने बैठ गए, वह आसन फिर चिरकाल तक स्थिर रहता है। वे अपने आसन से चलायमान् नहीं होते हैं। जैसे मोही जन किसी के मोह में आकर चाहे जिस आसन से लगातार बैठ सकते हैं, क्योंकि उन्हें मोह की ओर तीव्र उपयोग जगा है, उसके विपरीत ये साधुजन चूँकि इस आनन्दमय ज्ञानसुधासागर में इनका चित्त बसा हुआ हैं, सो उस वृत्ति के कारण वे एक आसन से बहुत देर तक बैठे रहा करते हैं। ये उपसर्ग आने पर भी और कंकरीली, पथरीली जमीन पर बैठे होने पर भी वे अपनी स्वरूपसाधना से चलित नहीं होते हैं- ऐसे ज्ञानस्वरूप प्रत्याख्यान के वे पात्र होते हैं।

शय्यापरीषहविजय- ये साधु पुरुष निरन्तर किसी न किसी आवश्यक काम में लगे रहा करते हैं। स्वाध्याय करें, लेखन करें, चिंतन करें, ध्यान करें, उपदेश दें याने किसी न किसी आवश्यक ज्ञानसाधक कार्य में लगे ही रहा करते हैं। जब शरीर थक जाता है तो कैसी ही कंकरीली, पथरीली जमीन हो, थोड़ी देर को उसी ही भूमि पर लेटकर शयन करते हैं। जमीन तिकौनी हो, कंकरीली हो, कठोर हो, कैसी भी हो, उस पर ही वे एक करवट से सीधे पड़े रहा करते हैं। किसी भी प्रकार से एक ही ढंग से शयन करते हैं और उनके इस पद्धति से लेटे हुए में रंच आकुलता नहीं होती है, क्योंकि उनका उपयोग इस शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव में लगा हुआ है। वन में सो रहे हैं तो वहाँ भी उन्हें यह भय नहीं होता हैं, घबड़ाहट नहीं होती है कि यह वन हिंसक जन्तुवों से भरा हुआ है, कब सुबह हो तो जल्दी यहाँ से निकल जाना चाहिए। उन्हें परवाह नहीं है। जो शुद्ध परिणाम रखते हुए जीवन बिताए, उसको मरने का क्या भय? मर जायें तो क्या नुकसान? जो शुद्ध परिणामों से बर्त रहा है, मरकर भी सद्गति ही तो होगी। अपना आत्मा जिसके अपने उपयोग में सामने है, उसे मरने का क्या भय है? ऐसे शूर-संत कठिन परिषह भी शांतिपूर्वक सहा करते हैं। ऐसे ये प्रत्याख्याता पुरुष ज्ञानशूर होते हैं।

अक्रोशपरीषहविजय- ये साधु पुरुष कभी-कभी कुछ थोड़े समागम में भी पहुंच जाते हैं अथवा वहाँ कुछ लोग उनके निकट भी आया करते हैं, उनमें कोई दुष्ट पुरुष हो और ऐसे निरपराध, ज्ञानरत, निर्विकार साधुवों को देखकर अनेक गालियाँ दें कि ये बेशर्म हैं, कमाई करके नहीं खाते हैं, ये लट्ठ से पड़े हुए हैं– ऐसी कितनी ही गालियों की बौछार भी आये, तिस पर भी उन साधुवों के चित्त में क्षोभ नहीं होता है। उनमें यद्यपि इतनी शक्ति है कि ऐसी गाली देने वाले सैकड़ों पुरुष भी हों तो भी उन्हें अपने शरीरबल से दण्ड दे सकते हैं। इन साधुवों में पहिले कोई राजा था, महाराजा था, सुभट था, बलि था, सेनापति था, चक्री था– ऐसे बड़े शक्तिशाली साधु होते हैं। उनमें बड़ी सामर्थ्य है, फिर भी वे प्रतिकार नहीं करते हैं, वे तो अब ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं। ये अन्य जीव हैं, इनमें इस प्रकार का कषाय भरा हुआ है, उसके

अनुसार ये प्रवृत्ति करके दु:खी हो रहे हैं। उन गाली देने वालों पर इन साधुवों को दया आती है, द्वेष नहीं होता है। ये साधु ऐसे समय में भी अपने में विकार नहीं उत्पन्न होने देते। ऐसे ये ज्ञानशूर प्रत्याख्यान के अधिकारी होते हैं।

बधपरीषहविजय- इन साधुवों को कोई चोर सताये, डाकू आदि मारें-पीटें, प्राणघात करने आयें, पर वे तो यह जानते हैं कि मेरा आत्मा अछेद्य है, अभेद्य है, ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अमूर्त है, यह तो अपने आपमें विकल्प उठाकर ही अपना घात कर सकता है, दूसरा जीव इसका बिगाड़ नहीं कर सकता है। ऐसे इस शुद्ध आत्मद्रव्य के अनुभव में वे साधु स्थिर रहा करते हैं।

याचनापरीषहविजय- ये साधु बड़े गौरवशाली होते हैं। इन्हें कितना भी रोग आ जाये तो भी ये औषधि की याचना नहीं करते हैं। इन्हें भूख-प्यास की कितनी ही वेदना हो तो भी वे दूसरों से भोजन देने की याचना नहीं करते हैं। हां, क्षुधा-शांति के लिए शास्त्रकथित विधिपूर्व धर्मात्मावों के मुहल्ले से निकल जाना तो उन्हें योग्य है, किंतु मुख से माँगेंगे नहीं कि अमुक चीज दो। ऐसी कठिन वेदना के समय भी नहीं माँगते हैं और न शरीर से इशारा करते हैं। वे तो अपने चैतन्यस्वभाव के दर्शन में ही संतुष्ट रहा करते हैं। ऐसे ये ज्ञानशूर साधु पुरुष प्रत्याख्यान कर रहे हैं।

अलाभपरीषहविजय- ये साधु किसी भी अनिष्ट प्रसंग में वेदना के उपस्थित होने पर भी और औषधि न मिले तो भी ऐसे अलाभ को लाभ से भी अधिक उत्तम समझते हैं। आहार करने को मिलता तो खाते-पीते समय तो कुछ तो अपने ज्ञान-ध्यान से चिगकर उस ओर लगना पड़ता। चलो यह भी एक लाभ ही है। कैसी रुचि है इन ज्ञानियों की? ऐसी कितनी ही बातें उनके चित्त में क्षोभ नहीं कर सकती हैं। भला बतावो तो कोई आराम में रहकर भक्तजन सब तरह की सुविधायें दें, तिस पर भी गाल फूल रहे हैं, क्रोध क्रोधित हो रहे हैं, ऐंठ रहे हैं तो कहाँ साधुता को निरखा जाये? ये साधु पुरुष बड़े-बड़े अलाभ के प्रसंगों में भी संतुष्ट रहा करते हैं। वे जानते हैं कि मेरा आत्मा ही परमवैभव है, वह तो मेरे निकट ही है। वे आत्मलाभ में भी तृप्त हुआ करते हैं। कोई कठिन रोग भी आ जाये और तपस्या के बल से उन्हें बड़ी विशिष्ट ऋद्धियाँ भी उत्पन्न हुई हैं, जिन ऋद्धियों के प्रताप से स्वयं ही सैकड़ों रोगी अपने रोग से मुक्त हो जाते हैं। फिर भी अपनी ऋद्धि का प्रयोग अपना रोग मिटाने के लिए नहीं है। इन साधु-संतों को छूकर आई हुई हवा भी रोगियों के रोग को दूर कर देती है। इन साधु-संतों का पसीना, मूत्र, मल, थूक, खकार भी किसी को छू जाए तो वे भी रोग दूर कर देते हैं। इतनी विशिष्ट ऋद्धियाँ जिनमें उत्पन्न हों और उनके ही शरीर में कोई रोग हो तो वे अपने रोग को दूर करने का भाव भी नहीं रखते हैं। कैसी निर्विकल्प-समाधि की रुचि इन ज्ञानी-संतों के हुई है कि वे उसका प्रतिकार नहीं करते हैं, समता से सहते हैं और वह निरन्तर देखा करते हैं कि यह मेरा आत्मा तो सर्वरोगों से परे केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है। ऐसे ज्ञानशूर पुरुष समस्त अपराधों का प्रत्याख्यान करते हैं।

तृणस्पर्शपरीषहविजय- चलते, बैठते, सोते, उठते आदि किन्हीं भी प्रसंगों में नुकिले तृण लग जायें, कंकरीली पत्थर की शिला से चोट लग जाए, देह के श्रम को दूर करने के लिए बैठें, उन्हीं कंकरीले स्थानों पर सोयें, इनसे वेदना हो तो भी वे खेद नहीं मानते हैं। वे काँटों की भी परवाह नहीं करते हैं। वे अपने स्वरूप के स्पर्श की ही धुन बनाए हुए हैं। वे ज्ञानशूर पुरुष समस्त विषय-कषायों का परिहार किया करते हैं। कषायों को जीतने में बहुत बड़ा ज्ञानबल चाहिए। कषाय

करना तो आसान है, पर अपने में कषाय न आने देना, क्षमा आदि गुणों से तृप्त बने रहना- यह बड़े शूरवीर का ही काम है।

मलपरीषहविजय- साधु-संतों को स्नान से कुछ प्रयोजन नहीं है। उनका शरीर रत्नत्रय से पवित्र है। कितना ही पसीना आ जाए और उससे दाद, खाज आदि कितने ही चर्म-रोग हो जायें, फिर भी उनकी पीड़ा की ओर वे लक्ष्य नहीं देते हैं। खुजलाहट होने पर तो लोग शरीर को बहुत तेज रगड़ते हैं। दाद, खाज की खुजलाहट में मनुष्यों में खुजाये बिना चैन भी नहीं पड़ती है। वे साधुजन दाद, खाज को रगड़ना नहीं चाहते हैं। वे तो जानते हैं कि इस दाद, खाज में स्थित क्षुद्र-क्षुद्र जीवों को बाधा न पहुंचे, उनका घात न हो जाए। इस भाव से भी शरीर के मल को टाने के लिए कोई उबटन आदि का उपाय भी नहीं करते हैं। वे तो स्व के अनुभव में ही लीन रहा करते हैं। ऐसे विजयी साधु निश्चयप्रत्याख्यान कर रहे हैं। जो परीषहों में भी विचलित नहीं होते हैं, वे ही पुरुष मोक्षमार्ग में प्रगति कर सकते हैं। यों निश्चयप्रत्याख्यान के अधिकार में परीषहविजयी शूरों की कुछ कथनी की जा रही है।

सत्कारपुरस्कारपरीषहविजय- मात्र अपने चित्प्रतिभासस्वरूप में ही तृप्त रहने वाले ज्ञानी पुरुष अपनी स्वभावदृष्टि की सफलता में ही अपने को कृतार्थ समझते हैं। लौकिक पुरुषों के द्वारा किए गए सत्कार, सम्मान, तिरस्कार का कुछ मूल्य नहीं समझते हैं अर्थात् उनको लौकिक सम्मान में रंच रुचि नहीं है। जो पुरुष प्रत्येक पदार्थ को स्वतन्त्र अपने-अपने स्वरूप में विराजे हुए देख रहे हैं, वे पुरुष सम्मान, अपमान की बातों का क्षोभ मन में नहीं लाते हैं। दूसरे पुरुष प्रशंसा करें, सम्मान करें, फिर भी अन्तरंग में प्रसन्नता नहीं होती है। वे जानते हैं कि यह परपुरुषों के कषाय के अनुकूल प्रवृत्ति का फल है। जो ये वचन निकाल रहे हैं, इनका मेरे साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। कदाचित् कोई निन्दा, अपमान करे तो उसमें ज्ञानी जीव रुष्ट नहीं होते हैं। वहाँ भी यही विवेकी जान रहा है कि यह अपने कषाय के अनुकूल अपना प्रयत्न कर रहा है और उसके परिणाम में ये मुख, ओठ, जीभ आदि चल रहे हैं, उनका निमित्त पाकर ये वचन निकल रहे हैं। इन वचनों का मेरे से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये तो अन्य चीजें हैं, ऐसा जानकर निंद्य अपमान भरे वचन क्लेशकर नहीं होते हैं।

साधुवों की ज्ञानशूरता की प्रकृति- आत्मरसिक ज्ञानी साधु संत ऐसे ज्ञानशूर होते हैं कि कभी मोक्षमार्ग में कायरता का भाव नहीं लाते हैं। मैं इतना तपस्वी हूं, मुझमें इतना ज्ञान है, मैं इतना कठिन तप किया करता हूं, इस पर भी कोई मेरी मान्यता नहीं करता- ऐसा विकल्प उनके चित्त में कदापि नहीं आता। यह सब उपयोग की बात है। जैसे मरणहार पुरुष जिसका मरण निकट है, उसमें अपने आप ही कोई ऐसा बल प्रकट होता है कि किसी भी पदार्थ में ममता, रागद्वेष नहीं रहता है। यह प्रायः बात कही जा रही है। बहुत से ऐसे भी पुरुष होते हैं कि बड़े रागद्वेष से संक्लिष्ट होकर मरण करते हैं, किंतु जिनको कुछ भी प्रतिबोध है, चाहे वे कुछ अपने जीवन में कुछ भी व्यवस्था, प्रबन्ध राग करते आए हैं, वे भी मरण के समय में ऐसा विशिष्ट बल पाते हैं कि उन्हें किसी ओर मोह, ममता नहीं होती। मरण के समय में और शान्ति ही किस बात की है? किसी अन्य तत्त्व की ओर ममता न होना, यही तो शांति का रूप है। और शान्ति

किसे कहते हैं? जान लिया कि हम यहाँ से जा ही रहे हैं, हमारा किसी से कुछ सम्बन्ध ही नहीं रहने का है- ऐसी स्थिति में उनका उपयोग किसी भी पदार्थ की ममता में नहीं फँसता।

सत्कारपुरस्कारपरीषहविजयी की प्रत्याख्यानपात्रता- ये साधु संत तो निकटमरणी प्रबुद्ध पुरुष से भी और सुन्दर स्थिति में है। ये स्वरूपानुभव का स्वाद लेकर ही ऐसे तृप्त होते हैं कि उन्हें बाहर की बातें कुछ भी मालूम नहीं होती हैं। जैसे कोई व्यापारी पुरुष किसी काम में दस-पाँच हजार का लाभ लेता हो और उस प्रक्रिया में कुछ अपमान की बात आ जाए तो वह उसे कुछ भी नहीं गिनता है, क्योंकि उसका मूल ध्येय तो अपने आर्थिक लाभ में लगने का हैं। ऐसे ही ये साधु पुरुष अपना मूल ध्येय जो स्वात्मा की उपलब्धि है, उसमें ही लगे हुए हैं। निन्दा और अपमान के वचन उनमें क्षोभ नहीं ला सकते और सम्मान, प्रशंसा के वचन उनमें प्रसन्नता नहीं ला सकते। ऐसे सत्कारपुरस्कारपरीषहविजय करने वाले ज्ञानी पुरुष प्रत्याख्यान के अधिकारी होते हैं।

प्रज्ञापरीषहविजय- ये ज्ञानशूर बहुत महान् बुद्धिशाली भी हो जायें, मिथ्यावादियों पर विजय भी प्राप्त कर चुकें, अनेक विद्यावों के पारगामी भी हो जायें, तिस पर भी उन्हें विद्या का घमण्ड नहीं आता है। तुच्छ पुरुष ही थोड़ी चतुराई और विद्याकला प्राप्त कर लेने पर गर्व से भरपूर हो जाता है, किंतु जिसे यह पता है कि मेरी वास्तविक निधि तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द की है। यह कितना सा ज्ञान है? तीन लोक और तीन काल के समस्त द्रव्य, गुण, पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने की सामर्थ्य इस ज्ञान में है। यह ज्ञान कितना बड़ा है? न कुछ की तरह है। उसमें ज्ञानी पुरुषों को गर्व नहीं होता है और वे निज विज्ञानघनस्वभाव में ही उपयोगी बने रहा करते हैं। यह आत्मा ज्ञानघन है। घन उसे कहते हैं, जहाँ परतत्त्व का सम्बन्ध नहीं है। ठोस चीज को घन कहते हैं। प्योर (शुद्ध) केवल वह ही तत्त्व हो, उसे घन कहते हैं। यह आत्मा ज्ञानघन है। असंख्यात प्रदेशों में यह ज्ञानघन ही तो बर्त रहा है, ज्ञान से भरपूर है। घन का अर्थ वजनदार नहीं है, बल्कि घन का अर्थ है परतत्त्व से रहित होकर अपने ही तत्त्व में भरपूर रहना। यह आत्मा विज्ञानघन है- ऐसे ही स्वरूप में इस ज्ञानी पुरुष का उपयोग रहता है। इस ज्ञानस्वभाव के उपयोग में प्रत्याख्येय पदार्थ सब अपने आप छूट जाते हैं।

अज्ञानपरीषहविजय- यह ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्रकाश की तपस्यावों को करता है। जो तप साधारण जनों से किया जाना असम्भव है, बड़े तप करने पर भी यदि अवधिज्ञान प्रकट न हो तो यक संतजन खेद नहीं मानते हैं कि इतने वर्ष तक इतना उत्कृष्ट तप तपा और आज तक भी अवधिज्ञान नहीं प्रकट हुआ। लोग इसको मन्दबुद्धि वाला कहते हैं। इतने वर्ष तो हो गए साधु बने, किंतु यह ज्यों का त्यों ही मूर्ख है, इसमें कुछ भी विद्या नहीं आ सकी है- इस प्रकार कुछ भी कोई बकता रहे, तो भी वे साधुजन खेद नहीं मानते हैं। वे तो जानते हैं कि मुझे विशेष ज्ञान नहीं हुआ तो न सही, मुझे तो अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान करना है। बाह्यपदार्थों का ज्ञान यदि अधिक नहीं बढ़ पाया तो इसमें कौनसी हानि है? मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है कि मैं बाह्यपदार्थों को जानूँ। अवधिज्ञान न हो तो न सही। मुझे तो उसमें ही पूर्ण संतोष है कि मैं अपने सहज ज्ञानस्वभाव का स्पष्ट प्रतिभास कर लिया करता हूं- ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव के ज्ञान में ही

तृप्त रहने वाले साधुजन अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान न होने का खेद नहीं मानते हैं। ऐसे ही पुरुष भविष्यकाल में किसी भी प्रकार के अपराध के न करने का नियम रखते हैं, प्रत्याख्यान करते हैं।

अदर्शनपरीषहविजय- भैया ! बाहरी उपसर्गों से भी अधिक उपसर्ग अपने आपके ही विपरीत परिणमन से अपने आपमें कल्पनाएँ उठाते रहने का है और उन सबमें घोर कष्ट मिथ्यात्व का है। ये ज्ञानी साधु चिरकाल से दीक्षित होने पर भी बड़े-बड़े उपवास, तपस्या के करने पर भी इन्हें यदि अतिशय प्रकट न हो तो भी रंच भी यह कल्पना नहीं करते हैं कि मैं शास्त्रों में लिखी हुई विधि के अनुसार तो सब व्रत, तपस्या, नियम कर रहा हूं, किंतु उसके फल में मुझे कुछ भी अतिशय नहीं दिखता हैं। कहीं शास्त्र में ये सब बातें झूठ तो नहीं लिखी हैं- ऐसी कल्पना भी नहीं करते हैं। शास्त्रों में लिखा भी रहता है- ऐसे महोपवास तप के महात्म्य से ज्ञान में अतिशय प्रकट हो जाता है, केवलज्ञान हो जाता है, यह स्पष्ट लिखा हुआ तो है, उसे भी पढ़ लो। इतना अधिक तप करने के बाद भी कोई ज्ञान में अतिशय नहीं आ सका या कोई ऋद्धियां-सिद्धियां न प्रकट हों तो उसमें यह नहीं सोचते हैं कि ये शास्त्र मिथ्या मालूम होते हैं और अब हमारा तप करना व्यर्थ है- ऐसी कल्पना उनके नहीं जगती है। वे कभी सत्य श्रद्धान् से चलित नहीं होते हैं। उनको जो आत्मदर्शन हुआ था, उसमें दृढ़ रहते हैं, उसकी प्रतीति बनाए ही रहते हैं। ऐसे ज्ञानशूर पुरुष निश्चयप्रत्याख्यान का उपक्रम किया करते हैं।

परीषहविजय के लाभ- इन परीषहों के विजय से अनेक लाभ हैं। प्रथम तो जो बिना कष्ट सहन किए ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह ज्ञान किसी दु:ख के उपस्थित होने पर छूट सकता है। परीषह के विजयी पुरुष का यह एक ही प्रथम लाभ है कि कैसा ही उपसर्ग आने पर उसका प्राप्त किया हुआ यह ज्ञान निधान खोया नहीं जा सकता। दूसरा लाभ यह है कि परीषहविजय में अनेक उदितकर्म निष्फल टल जाया करते है। तीसरा लाभ यह है कि पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा विशेष होती रहती है। चौथा लाभ यह है कि नवीन अशुभकर्म बँधते नहीं हैं, उनका संवर हो जाता है और 5वीं बात परीषहविजयी पुरुष नि:शंक रहते हैं। जो कायर पुरुष हैं, कष्टसहिष्णु नहीं हैं, वे ही पद-पद पर शंका किया करते हैं। हाय, अब क्या होगा उन्हें यह आगामी भय बना रहता है। छठा लाभ यह है कि परीषहविजयी पुरुष के सब गुण विकसित हो जाते हैं, उनमें धैर्य आता है, क्षमा प्रकट होती है, संतोष की वृद्धि होती है। वे तो इस लोक में भी सुखी हैं, परलोक तो आनन्द प्राप्ति का उद्यम है ही। सातवाँ लाभ यह है कि इसके फल में परलोक में अभ्युदय प्राप्त होता है। अन्तिम लाभ यह है कि वे संसार के समस्त दु:खों से मुक्त होकर परम आनन्दमय मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। ऐसे ये परीषहविजयी ज्ञानशूर पुरुष सर्वप्रकार के अहंकारों का परित्याग रूप व्यवहार प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानमय निज ज्ञायकस्वरूप का अवलोकनरूप निश्चयप्रत्याख्यान किया करते हैं।

प्रत्याख्यान के अधिकारी व्यवसायी- ये ज्ञानीपुरुष अपने मोक्षमार्ग में बड़े व्यवसायी होते हैं। निरुपाधि शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टिरूप परमतपश्चरण में सदा निरत रहा करते हैं। मोक्षमार्ग का व्यवसाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का धारण है। ये रत्नत्रय कुशल ज्ञानी पुरुष निश्चयरत्नत्रय के पात्र हैं। ये ज्ञानी संसार के दु:खों से भयभीत हैं। ग्रन्थों में लिखा है कि साधुवों को निद्रा नहीं आती है उनकी निद्रा का आना भी न आने की तरह है।

श्वाननिद्रा से भी अत्यल्प उनकी निद्रा है। इसका क्या कारण है कि जो साधुवों को अन्य लौकिक जनों की भांति नींद नहीं आती है? इसका कारण यह है कि नींद न आने के दो हेतु हैं- एक तो विशिष्ट आनन्दलाभ व दूसरा कोई दु:ख आना। उन्होंने आत्मतत्त्व का दर्शन कर लिया है, जिसके अतुल आनन्द में वे ऐसे प्रसन्न रहा करते हैं, जिस प्रसन्नता के कारण वे सजग रहते हैं। उन्होंने आत्मतत्त्व जैसी अतुल निधि पा ली है, जिससे उन्हें निद्रा नहीं आती है। और दु:ख भी उन पर हैं, वे तो इस संसार में बसने का ही बड़ा दु:ख मानते हैं, इस शरीर के बन्धन को वे क्लेश समझते हैं। शुद्धज्ञानस्वरूप के उपयोग के अतिरिक्त अन्यत्र यह उपयोग रमे या फँसे, उसको बड़ा संकट समझते हैं। वे इन संकटों से भयभीत हैं, इनसे वे हटना चाहते हैं, इस कारण उन्हें निद्रा नहीं आती हैं। वे पुरुष संसारभय से भयभीत हैं, इनमें व्यवहारप्रत्याख्यान और निश्चयप्रत्याख्यान प्रकट होता है।

निश्चयप्रत्याख्यान की नियमित हितरूपता- व्यवहारप्रत्याख्यान तो कदाचित् मिथ्यादृष्टि जीवों के भी सम्भव है। कदाचित् चारित्र मोह के उदय के कारणभूत जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं, उनकी ऐसी ही मंदता हो जाए, जिसमें व्यवहारप्रत्याख्यान सम्भव हो जाता है। जैसे घर त्याग देना, वैभव त्याग देना, व्रत और संयम का पालना इसे व्यवहार संयम कहते हैं और अनन्तानुबन्धी कषाय की मंदता में इतना तक भी हो जाता है कि कोई बैरी द्रव्यलिंगी साधु को कोल्हू में पेल दे तो भी वह बैरी से द्वेष नहीं करता है। उसके अन्तर में क्या बसा हुआ है, जिसके कारण इतने उपद्रवों को भी वह सह लेता है और द्वेष भी नहीं करता है? मैं मुनि हूं, मैंने मुनिपद लिया है, अत: मुझे द्वेष नहीं करना चाहिये, इससे ही हमें सद्गति मिलेगी। इस अध्यवसाय से द्वेष नहीं करते हैं। ऐसे जो विकल्प-बुद्धि में अटके हैं, वे इनको पार करके शुद्ध ज्ञानस्वरूप को नहीं निहार पाते हैं। व्यवहारप्रत्याख्यान तो ऐसे मिथ्यादृष्टि जनों के भी सम्भव हो जाता है, इस कारण निश्चयप्रत्याख्यान ही हितरूप है और यह अति आसन्न भव्य जीवों के प्रकट होता है।

ज्ञानी की साधना में व्यवहारप्रत्याख्यान का सहयोग- ज्ञानी के भी व्यवहारप्रत्याख्यान है, किंतु व्यवहारप्रत्याख्यान का प्रयोजन निश्चयप्रत्याख्यान है। उसकी लगार भी न हो तो व्यवहारप्रत्याख्यान मोक्षमार्ग में कार्य नहीं कर सकता है। जैसे स्वर्णपाषाण भी दो तरह के होते हैं। जिसमें स्वर्ण निकलता है, ऐसे पाषाणों की बात कही जा रही है। एक तो ठीक उपादेयस्वरूप स्वर्णपाषाण है और दूसरा कहलाता है अंधपाषाण। अन्ध पाषाण भी उस पाषाण की जाति का तो है, परन्तु उसमें स्वर्ण का निकलना कभी सम्भव नहीं है। जैसे मुँग दो तरह की होती है- एक पक जाने वाली और दूसरी ऐसी कि जिसे कितना ही पकावो, पकती नहीं है। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव अथवा अभव्य जीव व्यवहारप्रत्याख्यान से सिद्धि नहीं पाते हैं और अत्यासन्न जीव व्यवहारप्रत्याख्यान भी करते हैं और उसके प्रयोजनभूत निश्चयप्रत्याख्यान में प्रगति करते हैं। इससे शुद्ध तत्त्वज्ञान उपादेय है।

प्रत्याख्यानभावना- संसार, शरीर और भोगों से निर्दोषता प्रकट होना, सो निश्चयप्रत्याख्यान का कारण है। फिर भविष्यकाल में ऐसे ज्ञानी पुरुषों के मर्यादित सर्वप्रकार के विभावों का परिहार हो जाता है। वही उनका परमार्थप्रत्याख्यान है अथवा भविष्यकाल में अन्तर्जल्प और बहिर्जल्परूप विकल्पों का परित्याग हो जाता है। ऐसे ज्ञान के अभ्यासी पुरुष शुद्ध निश्चयप्रत्याख्यान को पाकर निकट ही काल में मुक्ति के पात्र होते हैं। हे मुमुक्षुजनों ! यह

प्रत्याख्यान इस जीव को शरणभूत है अर्थात् अपराधों से दूर रहने का संकल्प कितनी प्रसन्नता उपादक है। यह प्रत्याख्यान सदा जयवन्त रहो। इसके प्रसाद से ही उत्कृष्ट मोक्ष का सुख प्राप्त होता है। इस प्रत्याख्यान की निरन्तर भावना हो और सर्वदोषों से रहित केवल ज्ञानस्वरूप अपने आपकी दृष्टि हो, इससे ही संसार के सर्वप्रकार के संकट दूर होते हैं।

गाथा 106

एवं भेदब्भासं जो कुव्वदि जीवकम्मणो णिच्चं।

पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदें सो संजदो णियमा ।।106।।

भेदाभ्यासी का प्रत्याख्यानाधिकार- इस प्रकार जो लोग जीव और कर्म में नित्य भेदभावना का अभ्यास करते हैं, वे संयमी पुरुष नियम से प्रत्याख्यान को धारण करने में समर्थ होते हैं। प्रत्याख्यान नाम है त्याग का। किसे त्यागना है, किससे त्यागना है। त्याग में दो तत्त्वों का होना आवश्यक होता है। जैसे अपादान कारक में एक ध्रुवरूप होता है और एक अध्रुवरूप होता है। ध्रुव तो अपादान है और अध्रुव है अपाय। जैसे कहते हैं कि वृक्ष से पत्ते गिरते हैं, यह अपादान का उदाहरण है। इस दृष्टान्त में वृक्ष तो ध्रुव है और पत्ते अध्रुव हैं। पत्ते स्थान त्यागते हैं, इसलिए वे अध्रुव हैं और वृक्ष तो ध्रुव है। इसी प्रकार त्याग करना है तो किसका त्याग करना है और किससे त्याग करना है- ये दो बातें उसमें अवश्यम्भावी हैं। त्याग करना है रागादिक समस्त विभावों का और त्याग किससे करना है? इस सहज चैतन्यस्वभावरूप आत्मा से। रागादिक विभाव अध्रुव हैं, इनका परित्याग हो सकता है और यह आत्मतत्त्व ध्रुव है। जब तक इन दोनों का भेदभावना का अभ्यास न बन जाए, तब तक प्रत्याख्यान नहीं होता है।

भेदज्ञान से अभेदात्मत्व के ग्रहण में प्रत्याख्यान की परिसमाप्ति- चाहे यों कहो कि प्रत्याख्यान तो है ही। प्रत्येक जीव में परपदार्थों का अभाव है। प्रत्येक जीव के स्वभाव में केवल स्वभाव है। यों स्वभाव का और विभाव का जो भेदाभ्यास करता है, वही पुरूष परमार्थदृष्टि से प्रत्याख्यान को करने में समर्थ होता है। यह निश्चयप्रत्याख्यान के वर्णन का उपसंहार चल रहा है। वे ही पुरूष निश्चय और व्यवहार प्रत्याख्यान को स्वीकार करते हैं जो श्रद्धालु होंगे और अरहंतमार्ग के विचार करने में समर्थ होंगे। तत्त्व का जो स्वरूप कहा गया है, उस स्वरूप का विचार करने में जो निपुण होगा, वही पुरूष प्रत्याख्यान को कर सकता है। मोही, मिथ्यादृष्टि, पर्यायबुद्धि वाले जन जो पर्याय में ही अभेदाभ्यास किए हुए हैं कि यह मैं हूं- ऐसी मिथ्याबुद्धि में प्रत्याख्यान नहीं ठहरता है। जो अशुद्ध अन्तस्तत्त्व और शुद्ध अन्तस्तत्त्व दोनों का सम्बन्ध भेद निरखते हैं। अशुद्ध अन्तस्तत्त्व है पररूप में तो कामार्णपुद्गल और निजक्षेत्र में रागादिक विभाव और शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, यह चैतन्यस्वभाव है- ऐसे स्वभाव-विभाव में जो बन्धन के सम्बन्ध का भेद करते हैं, भेदाभ्यास के बल से वे संयमी निश्चयप्रत्याख्यान को स्वीकार करते हैं और व्यवहारप्रत्याख्यान को सहयोगी करते हैं। व्यवहारप्रत्याख्यान में तो परवस्तु

का त्याग है और निश्चयप्रत्याख्यान में अपने आपमें जितने भी उपाधिसम्बन्ध से होने वाले परिणाम हैं, उनका प्रत्याख्यान है। केवल एक शुद्ध शाश्वत चित्स्वभावमात्र ही जहाँ ग्रहण है, वहाँ ही निश्चयप्रत्याख्यान होता है। ऐसे निश्चयप्रत्याख्यान को यह संयमी स्वीकार करता है।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचना में मूलभाववृत्ति- भैया ! करना क्या है? केवल एक ही बात। वर्तमानकाल में चलते हुए इन रागादिक भावों से भिन्न एक चित्प्रकाशमात्र अपने आपको जानना देखना है। इस एक ही काम में तीन काम हो जाते हैं- प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना। वर्तमान में जो रागादिक भाव हैं, उनसे भिन्न आत्मतत्त्व को देखो। ऐसा देखने में प्रतिक्रमण तो यों हो जाता है कि पूर्व में बाँधे हुए जो कर्म हैं, उन कर्मों का वर्तमान में फल नहीं मिल सकता है। कर्मों का फल तब मिलता है, जब कर्मों के फल में आस्था हो, उपयोग दें तो फल मिलना होता है। कोई पुरुष उपयोग तो दिये हुए है एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश में, यह मैं हूं- ऐसा ही अनुभव कर रहा है और कर्म बँधे हैं भव-भव के तथा उनका काल आने पर उदय भी चल रहा है। चले उदय, किंतु उस काल में उदयक्षण से एक समय पहिले उनमें से अनेक विरुद्ध वर्गणावों का स्तिबुकसंक्रमण हो जाता है और जो मन्द अनुभाग वाले उदय हैं, वे बुद्धि में नहीं आते हैं, वे अबुद्धिपूर्वक निकल जाते हैं। इस प्रकार जो ज्ञानप्रकाश के अनुभव में जुटे हुए हैं, उनके प्रतिक्रमण होता है।

प्रतिक्रमण नाम है पहिले बँधे हुए कर्मों का फल बेकार हो जाना, फल न मिल सकना। जब वर्तमान में ज्ञानस्वभाव में उपयोग चल रहा है तो उसका अब फल नहीं मिल रहा है, यही हो गया प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमण का कारणभूत मूलभाववर्तन ही प्रत्याख्यान व आलोचना का कारण- प्रत्याख्यान कहते हैं भावी काल में फल न मिल सकने के लिए कर्मबँध न हो सकना। जिन कर्मों के उदय का भविष्य में फल मिलेगा, उसे कहते हैं प्रत्याख्यान। जो जीव वर्तमान में विभावों से भिन्न ज्ञानस्वभाव का अनुभवन कर रहा है, वह पुरुष कर्मबँध नहीं करता है और न भावी काल में उसका फल मिलेगा। यों एक ही काल में यह प्रत्याख्याता रागादिक भावों से विविक्त ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको स्वीकार कर केवल उस व्रत में प्रत्याख्यान भी हो गया। विवक्त स्वभाव की दृष्टि में आलोचना तो स्पष्ट ही है। आलोचना कहते हैं वर्तमान दोषों को अपने से भिन्न निरखना। यह तो काम कर ही रहे हैं, इसलिए आलोचना भी चल रही है। यों केवल एक काम में ये तीन बातें चलती हैं।

एक वर में तीन सिद्धियों का लोकदृष्टान्त- एक कथानक है कि एक पुरुष को देवता सिद्ध हो गया। वह देवता उससे प्रसन्न होकर कहता है कि "वत्स ! एक वर जो चाहो, सो माँग लो।" वह घर आया और माँ, बाप, स्त्री से पूछा कि "देवता से एक वर क्या मांगूँ ?" पिता ने उत्तर दिया कि "धन मांग लेना।" माँ ने सलाह दी कि "मेरे आँखें नहीं हैं, सो आँखें मांग लेना।" फिर स्त्री ने अपनी राय प्रकट की कि "एक पुत्र मांग लेना।" अब वह परेशान हुआ कि इनमें से कौनसी एक चीज मांगूँ ? तुरन्त उसने एक उपाय सोच लिया कि क्या मांगना है? दूसरे दिन वह देवता के पास गया। उसे देखकर देवता ने कहा कि "वत्स ! अब एक वर मांग लो" उसने कहा कि हे देव ! मेरी माँ अपने पोते को सोने के कटोरे में दूध पीता हुआ देखे, मैं यही मांगता हूं।" उसने एक ही चीज मांगी ना? अरे, उस वर में तो तीनों चीजें आ

गयीं। ऐसे ही मोक्षमार्ग के प्रकरण के जिस भाव में प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना- ये तीनों चलते हैं, वह भाव है सर्व से विविक्त ज्ञानस्वभावमात्र अपने आपको स्वीकार करना। इसमें तीन बातें आ गयीं।

विविक्त ज्ञानभावना- भैया ! जब उत्थान होता है तो ये तीन बातें आया करती हैं। पूर्व के अपराधों से हट जाना, आगामी कालों में अपराध न करना, वर्तमान में अपराध न करना- ये तीनों ही बातें एक निज सहज ज्ञानस्वभाव के अवलोकन में प्रसिद्ध हो जाती हैं। जो स्वभावदृष्टि करके सच्चा त्याग बनाए, व्रत बनाए, संयम बनाए, हो वास्तव में स्वभावदृष्टि, केवल बातों की कल्पना से यह बात नहीं आया करती है। यों प्रत्याख्यान के अधिकार में यह प्रत्याख्याता भावना करता है कि भविष्यकाल में होने वाले भावों से जो निवृत्त है, वह मैं हूं; जो नैमित्तिकतत्त्व हैं, वह मैं नहीं हूं। इसी प्रकार हम सब मुमुक्षुवों को दोषनिर्मुक्त होने के लिए पूर्ण ज्ञानानन्दनिधान इस निजस्वरूप की निरन्तर भावना करनी चाहिए।

परमतत्त्व की परख का अनुरोध- जैसे हम लोग इन आँखों से बाहर में कुछ देखा करते हैं और उसमें यह छटनी बना लेते हैं कि यह पदार्थ दर्शनीय है, इसे देखते रहना चाहिए। जैसे बाहर में यह छटनी करते हैं, इसी प्रकार इन आँखों से न देखकर हम इस ज्ञान-नेत्र से देखें तो वह कौनसी चीज है, जिसके देखने से संसार के सब दु:ख छूट जाते हैं? बस, इसका अवलोकन जिसने किया, उससे बढ़कर कोई विभूतिमान् नहीं है। हम इस ज्ञान-नेत्र से किस परमतत्त्व को देखें? जिसको हम देखेंगे, वह तत्त्व बाहर न मिलेगा; किन्तु बाहर गयी हुई बुद्धि एक क्षोभ को ही उत्पन्न करती है। वहां वह परमतत्त्व नहीं मिलेगा, जिसको निरखने पर संसार के समस्त संकट छूट जाते हैं। वह तत्त्व खुद में ही मिलेगा, पर खुद को देखने की पद्धति में कुशल होना चाहिए। हम इस ज्ञान से जैसे अपने आपको निरखा करते हैं कि मैं अमुक चन्द हूं, ऐसा मनुष्य हूं आदिक देखते हैं, उसे न निरखकर कुछ उस तत्त्व को देखना चाहिए, जिसको आँखें मींचकर निरखा जा सकता है। मैं अमुक चन्द हूं, ऐसा मनुष्य हूं- यह सब इन्द्रिय द्वारा ही जाना गया है। किन्हीं भी इन्द्रियों से न जानें, केवल ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभाव को जानें- ऐसे तत्त्व अपने आपमें देखें।

विषवृक्षचिंतन की क्यारी से पार्थक्य- यह मेरा आत्मा शाश्वत है, सर्वसंकटों से मुक्त है, इसमें शरीर का भी सम्बन्ध नहीं है। यह शरीर संसार के भ्रमण को बढ़ाने का कारण है। इस शरीर का प्रेम संसार के संकटों की बगिया को हरी-भरी रखने के लिये, लहलहाती रखने के लिये जल-संचय के आधार जैसा काम कर रहा है। जैसे किसी बाग में क्यारी बनाकर नाली में पानी का प्रवाह करते हैं, उससे ये वृक्ष हरे-भरे बने रहते हैं, बढ़ते चले जाते हैं- ऐसे ही यह शरीर उस क्यारी की नाली की तरह है, जिसमें दुर्भावों का जल प्रवाह किया जा रहा है और उस जल-संचय से यह संसार का विषवृक्ष हरा-भरा होकर बढ़ता चला जा रहा है। तू इस शरीर से भी जुदा है, शरीर की रुचि से संसार के सारे संकट बनते हैं। सामायिक में, स्वाध्याय में या कहीं भी बैठे हों, दुकान पर ही क्यों न हों किसी भी जगह दो-चार सेकिण्डों को भी कभी तो अनुभव करें कि यह मैं हूं, यह मैं स्वरूप सत् आत्मा सर्व परपदार्थों से भिन्न, शरीर से भी जुदा, केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र हूं। इस तत्त्व को न जानने के कारण कितना अंधकार छाया है इन जीवों में? इन्हें शुद्ध यथार्थस्वरूप नहीं सूझता है।

स्व का स्वतन्त्र स्वरूप- यह मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् हूं। यह मैं सदा एक हूं, नानारूप नहीं हूं। जैसे जगत् में ये नाना प्रकार के जीव दिख रहे हैं- गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी आदि, ऐसे ही ये हम आप भी जितने दिख रहे हैं, उन सबके सम्बन्ध में ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि मुझे तो कोई दिख ही नहीं रहा है। कहां प्रवेश करके ज्ञानी चिंतन कर रहा है? भिन्न-भिन्न मनुष्यों को निरखकर। एक मानने की बात तो दूर रही, वह तो सुगम बात है; किंतु वृक्ष-कीड़े, पशु-पक्षी जैसे अत्यन्त भिन्न जीवों को निरखकर भी ज्ञानी इन सबमें एकत्व देख रहा है। ये सब केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हैं। ऐसा ही यह मैं ज्ञानमय आत्मा शाश्वत हूं, ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं।

स्वरूप की क्रियाकाण्ड विविक्तता- यह मैं शाश्वत आत्मा सर्वप्रकार की क्रियावों से दूर हूं। मैं कुछ करता हूं, मैं अमुक क्रियायें करता हूं, इस प्रकार की दृष्टि में मेरा आत्मा ओझल हो जाता है। मैं भावप्रधान हूं, यह केवल अपने परिणाम ही बनाता है। उसी परिणाम पर शान्ति और अशान्ति निर्भर होती है। मेरा यह आत्मतत्त्व समस्त क्रियाकाण्डों से दूर है। ये नाक, कान के आभूषण जो स्वर्ण के हैं, ये नाक, कान की शोभा बढ़ाने के लिये हैं, किन्तु वे ही आभूषण नाक, कान को छेदकर एक घाव बना दें तो वे आभूषण किस काम के हैं? ये क्रियाकाण्ड चलना, उठना, बैठना, शुद्धता से हाथ पैर की वृत्ति करना, दूसरों से अलग रहना, छुवाछूत आदिक इन सब क्रियावों से चलना, इन सबका उद्देश्य तो निश्चयधर्म का श्रृंगार करने के लिये था; किंतु ये क्रियाकाण्ड एक ममता को उत्पन्न करके हमारे ही धर्म में एक बड़ा रोग पैदा कर दें, बुद्धि को सड़ा दे, बहिर्मुखी दृष्टि हो जाये तो ये क्रियाकाण्ड समूह मेरे किस काम के हैं? मैं शुभ, अशुभ, मन, वचन, काय के समस्त क्रियाकाण्डों से विविक्त हूं।

दुर्लभ समागम के सदुपयोग का अनुरोध- भैया ! जो समय गुजर रहा है, वह वापिस नहीं आ सकता। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिला करता। जो मनुष्य नहीं हैं, ऐसे बहुत से जीव जो नजर आ रहे हैं, उनकी जिन्दगी तो देखो- भैंसा, बैल, घोड़ा, गधा आदि जोते जा रहे हैं, पीठ पर चाबुक लगती जा रही है और बांय-बांय करते जा रहे हैं। कितने दु:ख वे भोग रहे हैं? हांकने वाले जरा भी यह निर्णय नहीं कर रहे हैं कि इनकी भी हमारी ही जैसी जान है। कीड़े-मकौड़े आदि जीवों की हालत तो देख ही रहे हो, ये सब भी हम आपकी ही तरह चेतन जीव हैं। हम आपने सुखी होने का कोई पट्टा नहीं लिख रक्खा है। यह तो थोड़ा पुण्य का उदयकाल है, पर जो दुर्गति अन्य जीवों की हो सकती है, वही दुर्गति अपनी भी हो सकती है। इस कारण संसार से कुछ भय लायें, कुछ धर्म की ओर रुचि करें।

प्रत्याख्यानसाहसी के परमतत्त्वदर्शन की पात्रता- अच्छा, अब और आगे चलिए। जैसे मान लो अपने आपको ऐसा निरखते हैं कि मैं इसका प्रेमी हूं, मैं इसका विरोधी हूं- इस प्रकार से राग-विरोध भाव में अपने आपको लपेटकर निरखा करते हैं। उससे भी परे चलें और अपने आपमें देखे कि मैं कौन हूं, कौनसा वह परमतत्त्व है, जिसका आश्रय लेने से संसार के संकट नियम से टल जाते हैं? उस तत्त्व को न निरख पाया तो जैन धर्म का लाभ न लूट पाया, यह आप निश्चित् समझो। उस तत्त्व के निरखने के लिए इतना भी साहस करना पढ़े कि सब कुछ विभावों का परित्याग करना हो, वह भी मंजूर हो सके, इतना जिसमें आत्मविषयक प्रेम हो, रुचि हो, वह ही पुरुष अपने आपमें वर्तमान परमतत्त्व को देख सकता है, जान सकता है।

अन्तर्भेदाभ्यासी की प्रत्याख्यानपात्रता- अब आगे और चलिए। जो ऐसा समझने वाले हैं कि यह मैं हूं, मैं जानता हूं, मुझे सब पता है, मेरे में सब प्रकार की जानकारी होती है, जिन जानकारियों में हम अपने को लपेटते हैं, वे सब जानकारियाँ भी परमतत्त्व नहीं हैं, वे जानकारियाँ मिट जाती हैं और कारण पाकर होती हैं। जो जानकारियाँ होती हैं, उनमें ही पहिले अंदाज लगावो कि जान लिया तो क्या कर लिया? जानना हुआ ना? तो जानने का क्या स्वरूप है? पहिले उस बर्त रहे जानन का स्वरूप ही पकड़ लीजिए। क्या है इस जानन में, जो कि जानन भी मिला है और राग भी मिला है? जरा उस राग अंश को तो उपयोग द्वारा निकाल फैंको और उसमें केवल जाननमात्र ही देखिए तो इस देखने से भी उस परमतत्त्व के जानने का मार्ग मिलेगा।

दृष्टान्तपूर्वक स्वत्व की प्रसिद्धीकरण- जैसे पानी में लाल रंग घोल दिया तो पानी लाल हो गया। वस्तुत: वहाँ दों बातें हैं- पानी का स्वतन्त्र शुद्ध स्वरूप है और यह रंग भी है। उस रंगे हुए पानी को देखकर क्या हम ज्ञान से यह नहीं परख सकते हैं कि रंग इसमें यह है, पानी इसमें यह है? इस रंग बिना ही पानी है, क्या हम यह नहीं जान सकते हैं? जान सकते हैं। ऐसे ही राग और ज्ञान- ये दोनों बर्त रहे हैं हम और आपमें, पर थोड़ा ज्ञानबल का प्रयोग करें तो क्या हम वहाँ यह नहीं जान सकते हैं कि यह राग अंश है, उस राग बिना भी जानन रहा करता है। उस जानन का क्या स्वरूप है? केवल जानन प्रतिभास। उस शुद्ध जानन का जो स्वरूप है, उसको ही अगर जानें तो उस समय जो विशिष्ट पदार्थ है, कुछ विशेष है, वह सब ओझल हो जाएगा। केवल एक सामान्य चित्स्वरूप ही प्रतिभास में आएगा। ऐसा जो जाननप्रकाश है, केवल प्रतिभास है, उसके आधारभूत जो शक्ति है, तन्मात्र मैं हूं, जिसे चैतन्यशक्ति कहते हैं, चित्स्वभाव कहते हैं।

संसारतारणी नौका- चित्स्वभावरूप यह मैं वह परमतत्त्व हूं, जिसका आश्रय करने से संसार के संकट नहीं रहा करते हैं। संसार का संकट आगे न रहेगा, यह तो है ही, पर जिस काल में अंत:प्रकाशमान् इस चैतन्यस्वरूप का आलम्बन ले रहे हों, उस काल में भी एक संकट नहीं है। इस परमतत्त्व को जिनेन्द्र भगवान ने संसारसमुद्र से तारने के लिए नौका के समान बताया है, जिस नौका में बैठकर, सुरक्षित नौका में स्थित होकर बड़े-बड़े समुद्रों को पार कर लिया जा सकता है- ऐसे ही इस चैतन्यस्वभाव की नौका में उपयोग को बिठलाकर अपने को पार करके इस संसार-सागर के संकटों से पार हो सकते हैं। ओह ! ऐसा तत्त्वदर्शन जिसने किया है, उसका यह शिवसंकल्प होता है कि उन समस्त विभावों को त्यागकर, मोह को जीतकर इस परमतत्त्व को परमार्थ रीति से भाता हूं।

शुद्ध चारित्र में परमतत्त्व की उपलब्धि- मैं किसकी ओर निगाह डालूँ, किसको जानता रहूं कि मेरा परम कल्याण हो? वह है मेरा ही चैतन्यस्वरूप। जो हम हैं, स्वयं हैं, शाश्वत हैं, उसका ध्यान संसार के समस्त संकटों को नष्ट कर देता है। जिनका उपयोग इस सहज परम आनन्दस्वरूप में लग गया है, उनकी भ्रांति तो नष्ट हो ही चुकी है। अब वह पुरुष इसी चैतन्यस्वरूप में लीन होता है? बस शुद्ध चारित्र की मूर्ति ये ही साधु-संत हैं। बाहर में शरीर की क्रियाएँ प्रवर्तते हुए अपने को चारित्र हुआ है- ऐसी जो कल्पना है, वह कल्पना तो भ्रमरूप भी होती है। ये शरीर की क्रियाएँ तो विवश होकर करनी पड़ती हैं। अब ज्ञान का उदय हो गया तो उसमें यह विवेक चलता है कि यों न करना हो तो यों कर लो। जब करना ही पड़ता है तो यों नहीं करना है तो यों कर लो। इस तरह विवेकपूर्वक क्रिया करने को व्यवहारचारित्र कहते हैं।

व्यवहारचारित्र की निर्माणविधि का संकेत- जैसे चलना सबको पड़ता है। गृहस्थजन, व्यापारीजन व्यापार के उद्देश्य से गमन करते हैं, बैठे रहना उनका भी सम्भव नहीं है और मुनिजन एक स्थान पर रहें तो रागादिक भाव जम न जाएँ, उनसे बचने के लिए विहार करना आवश्यक है, जब चलना ही पड़ता है, चलना ही पड़ेगा तो असंयमी जनों की तरह बिना देखें यों मुँह उठाकर नहीं चलना है, सोच-समझकर देख-भालकर चलना है। असंयमी जन सब कुछ खाते हैं, वे खाने के लिए खाते हैं। वे समझते हैं कि वैषयिक-सुख भोगने के लिए अपना जीवन बना है और इसलिए अनाप-सनाप प्रवृत्ति रखते हैं, किंतु ज्ञानीजन संयम की साधना के लिए जीवन को आवश्यक जानकर जीने के लिए खाते हैं। खाना तो पड़ेगा ही, पर असंयमी जनों की तरह नहीं खाना है, सो शुद्ध चीजें खाते हैं। कायर बनकर न खावे तो शूर बनकर खावे, आसक्त होकर न खावे तो विरक्त होकर खावे। इस प्रकार का चलना, क्रिया करना, भोजन करना आदि व्रत मान लिया है। सो कुछ करना पड़ेगा ही, उसमें विवेक रखना- इसका नाम है व्यवहारचारित्र। यह ही स्वयं चारित्र नहीं बन गया, किन्तु जिससे मुक्त होना हो, इस परमतत्त्व के ज्ञान में अपने उपयोग को स्थिर बनाना हो- यह है शुद्ध चारित्र। ऐसे शुद्ध चारित्र की जो महात्मा मूर्ति हो गये हैं, उन महात्मावों के निरन्तर प्रत्याख्यान होता है।

परमतत्त्व के प्रकाश में निरन्तर प्रत्याख्यान- प्रत्याख्यान मायने त्याग है। बाह्यदृष्टि वाला यदि कोई त्याग करता है तो क्या रात-दिन त्याग करता फिरता है? बाह्य त्यागी ने घर छोड़ा, अब घर तो रहा ही नहीं, दुबारा क्या घर त्यागे? धन छोड़ दिया तो धन तो रहा नहीं, अब क्या त्यागे? बाहरी त्याग निरन्तर नहीं हो पाता है। जब मन में वैराग्य हुआ था, तब बाह्यपरिग्रह का त्याग कर दिया; किंतु यहाँ इस परमतत्त्व के प्रकाश में तो देखो कि कैसा निरन्तर उस परमतत्त्व के अनुभव में शुद्ध चारित्र जगा है? सो इस चारित्रवान् संत के निरन्तर प्रत्याख्यान है। वह प्रत्याख्यान है सर्वविभागों का, सर्वविकल्पों का। यों प्रत्याख्यान के अधिकार में मूल बातें कही गयी है, जिसका सहारा लिए बिना किसी का गुजारा नहीं है।

प्रत्याख्यान के यथापदाधिकारी- गृहस्थजन यह न जानें कि यह तो साधुवों की बात कही जा रही है। उस परमतत्त्व के दर्शन बिना सम्यक्त्व भी नहीं जग सकता है। गृहस्थ क्या सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं? होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हैं, उनको नियम से इस चैतन्यस्वरूप अन्त:प्रकाशमान् नि:संकट निर्विकल्प परमतत्त्व का दर्शन हुआ है। अन्तर केवल स्थिरता का रह जाता है। गृहस्थों के अनेक झंझट हैं, वे इस तत्त्व में स्थिर नहीं रह पाते हैं, लेकिन जो उपासक हैं उन्हें यह ध्यान है कि मेरे करने का काम उस परमतत्त्व में स्थिर रहना है। जो पुरुष परपदार्थों में उपयोग बसाए रहते हैं, अपने आपमें उठे हुए औपाधिक रागादिक भावों में ममता, अहंकार की बुद्धि बनाये रहते हैं, जो पुरुष वस्तुस्वरूप के शुद्ध प्रतिपादन करने वाले जिनेन्द्रमार्ग के सिवाय अन्य मार्गों में रागद्वेष और विकल्प में अपना उपयोग फँसाए रहते हैं- ऐसे त्यागियों तक के भी जिन्होंने घर-द्वार छोड़ दिया है, उन तक के भी प्रत्याख्यान नहीं होता। उनका तो फिर संसार में ही भ्रमण चलेगा।

ज्ञानी के प्रत्येक परिस्थितियों में साधना का साहस- देखो अपनी बात, देखो अपनी शाश्वत रहने वाली आनन्दभरी बात और मोह-ममता में आपको कुछ न मिलेगा। यह जीवन यों ही नहीं खो देना है। अरे, अपने आपमें विराजमान् इस निर्मल गुणमय शुद्ध सहज आत्मा में जो नियतरूप से रहता है, उसे निरखो। इसके ही निरखने के प्रसाद से जो केवल

आत्मा रह गये हैं, सिद्धप्रभु हुए हैं, उनमें तो यह अतिशयरूप से एकदम प्रकट विराजमान् है- ऐसे इस निज तत्त्व को अपने आपमें विराजा हुआ जानों। क्यों काम-वेदना से पीड़ित होकर इन्द्रियविषयों को लक्ष्य में रखकर, इन असार बातों में फँसकर अपना जीवन गँवा रहे हो? इतना बल अपने में बनावो कि कैसी भी स्थिति गुजरे, हमें घबराना नहीं है, कैसी ही निर्धनता आए, कैसे ही निर्जन हो जायें, पर घबराना नहीं है। जैसे कोई चतुर व्यापारी हो तो वह ऐसा दम भरता है कि सरकार कैसे ही कानून बनाए, पर मैं सबमें अपना साधन बना सकता हूं। अरे, यह तो लौकिक बात है। यह भी दृष्टि दो कि कर्मों के किसी भी प्रकार के उदय में मुझ पर कैसी ही परिस्थिति बीते, उन सब परिस्थितियों में अपना साधन बना सकता हूं और जो मेरा मूल उद्देश्य है, इस परमशरण चैतन्यतत्त्व को ग्रहण करना है। उस धर्म में मैं रंच भी आँच न आने दूंगा।

ज्ञानी का सहजविश्राम- क्षमाशील ज्ञानी पुरुष अन्त:सहजविश्राम प्राप्त करता है। अज्ञान अवस्था ही एक महान् संकट है, अन्य कुछ संकट नहीं है। वस्तु के स्वतन्त्रस्वरूप की सुध न रहना और मैंने अमुक को यों किया, इस प्रकार का विकल्प चलना, यह एक संकट है। संकट और किसी बाह्यपरिणति का नाम नहीं है। ज्ञानी पुरुष के न शत्रुता का परिणमन है और न मित्रता का परिणमन है। उसका न तो किसी के साथ बैर है और न किसी के साथ राग है। वह सहज वैराग्य में परिणत है। ज्ञानी अपने आपमें शिवसंकल्प कर रहा है कि मैं परमसमाधि को प्राप्त होता हूं। अज्ञानीजन तो कषायों से थककर, झक मारकर विश्राम लेते हैं। होने दो, मरने दो, मुझे मतलब नहीं, यह उसके एक अज्ञान की अकुलाहट है, पर ज्ञानी पुरुष वस्तुस्वरूप के जानने के कारण सहजविश्राम ले रहा है। मैं उत्कृष्ट परमसमाधि को प्राप्त होता हूं, जिससे परमसमता का भाव व्यक्त होता है।

धर्मात्मा के उपयोग में धर्मसाधना का महत्त्व- भैया ! यह बाह्यपरिस्थिति क्या है? आज है, कल नहीं है, इसमें मेरा क्या पूरा पड़ता है? जब तक जीवित हूं, तब तक यह है, बाद में सारा का सारा छोड़कर जाना होगा। इसमें उपयोग फँसाने में कुछ भी लाभ नहीं है। इसके प्रति तो यह बल रहना चाहिए कि आवो जो कुछ आता हो, इसमें मेरा कुछ अटका नहीं है। मैं सब परिस्थितियों में अपनी धर्मसाधना बना सकता हूं- ऐसा बल गृहस्थों के होना चाहिये। यदि ऐसा बल न आ सके तो उसको सुखी करने वाला दुनिया में कोई नहीं हो सकता है। कौन रिश्तेदार कृपा कर सकता है कि आपके संकटों को मेटे? कौन मित्र ऐसा है कि आपके संकटों को बाँट ले? आपका ही बल, आपका ही साहस आपके संकटों को मेट सकता है।

पुराणपुरुषों की चर्या में आस्था–अपने पुराणपुरुषों की चर्या पर विचार करो कि क्या किया था उन्होंने? त्यागी रहे, निर्ग्रंथ हुए, आत्मसाधना में लगे और उन्होंने सदा के लिये आनन्द प्राप्त किया। ऐसा ही करने की यदि हम आपकी धुन न हो, लक्ष्य न हो तो बेकार है। न कर सकें, यह दूसरी बात है, पर उस ओर का लक्ष्य ही न हो तो उसकी श्रावक संज्ञा नहीं है, उसे उपासक संज्ञा नहीं है। नाम तो कुछ भी अपना रख लो। धर्मात्माजनों की, अपने पुराणपुरुषों की चर्या में आस्था रहती है कि उन्होंने जो किया ठीक किया, यही हमें करना चाहिए था। ऐसा यह अन्तरंग शुद्ध चारित्र जो पापरूप वृक्ष के वनों को जला देने में समर्थ है, अग्नि की तरह प्रज्ज्वलित है, वह चारित्रसंयमी जनों के प्रकट होता है।

त्याग में आनन्द- यह प्रत्याख्यान सहज-सुख का देने वाला है। सुख त्याग से मिलता है, ग्रहण से नहीं मिलता है। अजमा-अजमाकर देखते जावो। जिन्हें आप लोग सुख कहते हैं, वे भी त्याग से मिल रहे हैं, ग्रहण से नहीं। कल के दिन भोजन में आनन्द मिलेगा, यह आज आप भोजन त्याग दें तो मिलेगा। खाते रहो दिनभर तो यह आनन्द न मिलेगा। ये पंचेन्द्रिय के विषय भी तब सुख के कारण बनते हैं, जब विषय का त्याग कर दें। लगे रहें विषयों में तो विषयों में भी आनन्द नहीं मिल सकता। जब विषयों का आनन्द पाने के लिए त्याग करना जरूरी हो जाता है तो विषयों का सदा के लिये त्याग कर दें तो किस प्रकार का अद्भूत आनन्द होता होगा, उसका अनुमान ही कर लीजिए।

परमतत्त्व का अभिनन्दन- जिस सहज तत्त्व के आलम्बन से मोहांधकार नष्ट होता है, वह तत्त्व सदा जयवन्त रहो, सबमें प्रकट हो, सबके संकट मिटें। यह आनन्द अद्भूत आनन्द है। लौकिक सुख तो ईर्ष्या और अनुदारता को समर्थित करने वाला है। दूसरों का सुख देखकर ईर्ष्या हो जाती है अथवा ऐसा विचारता है कि यह धनी न बने, मेरे धन बढ़े, इसके न बढ़े, इस पर धन बढ़ गया तो हम निर्धन रह जायेंगे। अपना अधीपना बढ़ाने के लिये दूसरों को निर्धन बनाये रखना इस लौकिक सुख में आवश्यक है, किन्तु इस परमार्थभूत आनन्द में कोई ऐब नहीं है। अरे, मेरी ही तरह सारा जगत् आनन्दमय हो जावे, मेरे आनन्द को कोई छुड़ा न लेगा। यह आनन्दमय परमतेज, यह हमारा ज्ञान रसास्वादन का ही बढ़ाने वाला है, दूसरा कोई नहीं है। यह तत्त्व आपेक्षित शाश्वत है, निर्दोष है, लोकोत्तम है, संसार-समुद्र में डूबे हुए इन जीवों को पार करने के लिए नौका की तरह है। इस संसार के संयोग-वियोग, सभी क्लेशों को नष्ट करने के लिए यह नौका की तरह है- ऐसे इस सहज तत्त्व को मैं पहिले प्रमाद को हटाकर, अपने उपयोग को शुद्ध रखकर, इसी को सर्वस्व समझकर मैं भावनमस्कार करता हूं अर्थात् मेरा झुकाव केवल एक इस परम पिता चैतन्यप्रभु की ओर ही रहे।

प्रत्याख्यानमय सहजतत्त्व का आनन्द- इस प्रकार यह मूल का साधक पुरुष प्रत्याख्यानमय इस सहजतत्त्व का आश्रय ले रहा है। जिसने इस सहजतत्त्व का आश्रय लिया, पापरूपी बैरियों का ध्वंस किया, सर्वकर्मों से दूर हुए, जिस तत्त्व को बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं और जिस विकासमय प्रभु का बड़े-बड़े योगीजन भी ध्यान करते हैं, जो सर्वगुणों का धाम है- ऐसे इस सहजतत्त्व को हम परमनमस्कार करते हैं और एक ही यह निर्णय रखते हैं कि मेरा सहायी केवल निज में विराजमान् इस शुद्ध स्वभाव का आलम्बन ही है और जगत् में अन्य कुछ शरण नहीं है। अब समस्त विकल्पों को त्यागकर निर्विकल्प परमशरण कारणसमयसाररूप निज सहज परमतत्त्व का, चित्स्वभाव का आलम्बनरूप शरण गहो। इसी से निश्चयत: सकल अपराधों का प्रत्याख्यान होता है।

इति नियमसार प्रवचन सप्तम भाग